प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

संशोधित, परिवर्द्धित तथा
परिवर्तित संस्करण

छठी बार : १९५२
कुल छपी प्रतियाँ : २३,०००
मूल्य
अढ़ाई रुपये

मुद्रक
रामप्रताप त्रिपाठी
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

इस पुस्तक का पहला संस्करण आज से तेरह बरस पहले प्रकाशित हुआ था। देश उस समय आजाद नहीं था। इसलिए इसमें उन चुने हुए लेखों का संग्रह किया गया था, जो तत्कालीन समस्याओं पर प्रकाश डालते थे। पुस्तक पाठकों को बहुत पसंद आई और कई शिक्षा-संस्थाओं ने इसे अपने पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया। चारों ओर से मांग होने के कारण गत वर्षों में इसके पांच संस्करण निकल गये। अब जब छठा संस्करण निकालने का अवसर आया तो अनायास विचार हुआ कि देश के स्वतंत्र हो जाने के कारण बहुत सी पुरानी समस्याएं नहीं रही हैं अथवा गौण हो गई हैं और कुछ नई उठ खड़ी हुई हैं। इस दृष्टि से देखने पर पुस्तक के कई लेख असामयिक जान पड़े और कुछ की कमी मालूम हुई। अतः पुस्तक को समयोपयोगी एवं सम्पूर्ण बनाने के खयाल से उसके कई लेख निकाल दिये और कई उसमें जोड़ दिये। इस प्रकार यह संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण पहले की अपेक्षा अधिक काम का बन गया है। कुछ लेख तो इसमें बिलकुल ताजे हैं। कुछ पुराने भी रक्खे गये हैं, क्योंकि उनसे आज की समस्याओं को समझने में मदद मिलती है।

सामान्य पाठकों, विशेषकर युवकों, के लिए इस पुस्तक का बड़ा महत्व है, कारण कि इसमें पंडितजी ने मौजूदा राजनैतिक व सामाजिक स्थिति, नागरिक कर्त्तव्य, साहित्य, शिक्षा, भाषा, विज्ञान, भारत की नई रचना, कांग्रेस, किसान और मजदूर, ग्रामोद्योग, चर्खा आदि अनेक विषयों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। साथ ही कुछ ऐसे संस्मरण भी दिये हैं, जो पाठकों के लिए बहुत ही रोचक और शिक्षाप्रद हैं। नेहरूजी छोटी-बड़ी

प्रत्येक समस्या पर व्यापक दृष्टि से विचार करते हैं। इस निगाह से इस पुस्तक का मूल्य और भी बढ़ जाता है।

पुस्तक की सामग्री के चुनाव में इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि युवकों के लिए यथासंभव आज के सब महत्वपूर्ण विषय आ जायं।

हमें विश्वास है कि पुस्तक पाठकों को पहले से भी अधिक पसंद आवेगी और शिक्षा-संस्थाएं उसका अब और अधिक उपयोग करेंगी।

—मंत्री

दो शब्द

(पहले संस्करण से)

इस किताब में 'हिन्दुस्तान की समस्याओं' पर मेरे पुराने और कुछ हाल के नये लेख जमा किये गए हैं। ये लेख मैंने पिछले तीन वर्षों में अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी में लिखे थे। इन तीन वर्षों में जमाना बदल गया और इस समय हमारे सामने नये-नये पेचीदा सवाल हैं। इसलिए मैं नहीं कह सकता कि इसके पुराने लेख आज की हालत में कहां तक मौजूं होंगे। पर आजकल के प्रश्नों की जड़ हमारे पिछले कामों में होती है। इसलिए मेरा खयाल है कि शायद इसमें के पुराने लेख भी हमारी नई समस्या पर रोशनी डालें।

दुनिया का या हिन्दुस्तान का भविष्य क्या होगा, यह कोई नहीं कह सकता। हर तरफ लड़ाई, क्रांति और हलचल हो रही है और सिर्फ एक बात सही मालूम होती है कि पुरानी दुनिया का अंत हम देख रहे हैं। नई दुनिया अभी पैदा नहीं हुई और हम बीच में टंगे हैं और बीच की सब मुसीबतें झेलते हैं। यह नई दुनिया अपने-आप से नहीं बन जावेगी। वह करोड़ों आदमियों के परिश्रम, बलिदान और कोशिश से ही बन सकती है। लेकिन मेहनत तो तब ही फल देती है जब सामने कोई ध्येय हो और जिस रास्ते पर चलना है, वह निश्चय हो। बगैर इसके जनता भूली-भटकी फिरती है।

हमारा ध्येय क्या है? स्वराज्य है या आजादी? यह तो ठीक है। लेकिन कैसा स्वराज्य? अब गोल शब्दों का समय जाता रहा। हम कैसा राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन चाहते हैं? हमको ये सब बातें अपने दिमाग में साफ करनी हैं। जब विचार साफ होते हैं तब ही हमारा कार्य ठीक चल सकता है।

१९३८

—जवाहरलाल नेहरू

विषय-सूची

हिन्दुस्तान की समस्याएं

: १ :

'भारतमाता की जय'

सभा और जुलूसों के मारे हम दिन भर बेहद परेशान रहे। अम्बाला से चलकर करनाल पहुंचे। वहां से पानीपत फिर सोनीपत और अन्त में रोहतक। खूब जोश और भीड़-भाड़ रही और आखिरकार पंजाब का दौरा खत्म हुआ। एक शान्ति की भावना मेरे भीतर उठी। कितना बोझ सिर पर था और कितनी थकान थी! अब तो ऐसे लम्बे आराम की जरूरत थी जिसमें जल्दी ही कोई विघ्न-बाधा आकर न पड़े।

रात हो गई थी। हम तेजी से रोहतक-दिल्ली रोड की ओर बढ़े; क्योंकि उस रात को हमें दिल्ली पहुंच कर गाड़ी पकड़नी थी। नींद मुझे बुरी तरह घेर रही थी। यकायक हमें रुकना पड़ा; क्योंकि बीच सड़क पर आदमी और औरतों की भीड़ बैठी थी। कुछेक के हाथों में मशालें थीं। वे आगे बढ़कर हमारे पास आये और जब उन्हें संतोष हो गया कि हम कौन हैं, तब उन्होंने बताया कि दोपहर से वे वहां बैठे-बैठे इंतजार कर रहे हैं। वे सब हृष्ट-पुष्ट जाट थे। उनमें ज्यादातर छोटे-मोटे जमींदार थे। उनसे बिना थोड़ी-बहुत बातचीत किये आगे बढ़ना मुमकिन नहीं था। हम बाहर आये और रात के धुंधलेपन में हजारों या इससे भी ज्यादा जाट मर्दों और औरतों के बीच बैठ गये।

उनमें से एक चिल्लाया, 'कौमी नारा!' और हजारों गलों ने मिलकर जोश के साथ तीन बार चिल्लाकर कहा—'वन्देमातरम्!' और फिर उन्होंने 'भारतमाता की जय' के नारे लगाये।

"यह सब 'वन्देमातरम्' और 'भारतमाता की जय' किस लिए है ?" मैंने पूछा ।

कोई उत्तर नहीं । पहले उन्होंने मुझे घूरकर देखा और फिर एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे । दिखाई पड़ता था कि वे मेरे सवाल करने से कुछ परेशान हो उठे हैं । मैंने सवाल दोहराया—"बोलिए, ये नारे लगाने से आपका क्या मतलब है ?" फिर भी कोई जवाब नहीं मिला । उस जगह के इंचार्ज कांग्रेस-कार्यकर्त्ता कुछ खिन्न-से हो रहे थे। उन्होंने हिम्मत करके सब बातें बतानी चाहीं; लेकिन मैंने उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया।

"यह 'माता' कौन है, जिसको आपने प्रणाम किया है और जिसकी जय के नारे लगाये हैं ?" मैंने फिर सवाल किया । वे फिर चुप और परेशान-से हो रहे । ऐसे अजीब सवाल उनसे कभी नहीं किये गए थे । सहज भाव से उन्होंने सब बातों को मान लिया था । जब उनसे नारे लगाने के लिए कहा जाता था, वे नारे लगा देते थे । उन सब बातों के समझने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की । कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं ने नारे लगाने के लिए कहा तो वे उज्र कैसे कर सकते थे ? वे तो खूब जोर से पूरी ताकत लगा कर चिल्ला देते थे । बस, नारा अच्छा होना चाहिए । इससे उन्हें खुशी होती थी और शायद इससे उनके प्रतिद्वन्द्वियों को कुछ डर भी होता था ।

अब भी मैंने सवाल करना बन्द नहीं किया । बेहद हिम्मत करके एक आदमी ने कहा कि 'माता' का मतलब 'धरती' से है । उस बेचारे किसान का दिमाग धरती की ओर ही गया, जो उसकी सच्ची मां है, भला करने और भला चाहने वाली है ।

"कौन-सी 'धरती' ?" मैंने फिर पूछा, "क्या आपके गांव की 'धरती' या पंजाब की, या तमाम दुनिया की ?" इस पेचीदा सवाल से वे और परेशान हुए । तब बहुत से लोगों ने चिल्लाकर कहा कि इस सबका मतलब आप ही समझाइए ? हम कुछ भी नहीं जानते और सारी बातें समझना चाहते हैं ।

मैंने उन्हें बताया कि भारत क्या है। किस तरह वह उत्तर में काश्मीर और हिमालय से लेकर दक्षिण में लंका तक फैला हुआ है। उसमें पंजाब, बंगाल, बम्बई, मदरास सब शामिल हैं। इस महाद्वीप में उनके जैसे करोड़ों किसान हैं जिनकी उन जैसी ही समस्याएं हैं, उन्हींकी-सी मुश्किलें और बोझ, वैसी ही कुचलने वाली गरीबी और आफतें। यही महादेश हिन्दुस्तान उन सबके लिए 'भारतमाता' है, जो उसमें रहते हैं और जो उसके बच्चे हैं। भारतमाता कोई सुन्दर बेबस असहाय नारी नहीं है, जिसके धरती तक लटकने वाले लम्बे-लम्बे बाल हों, जैसा अक्सर कल्पित तस्वीरों में दिखलाया जाता है।

'भारतमाता की जय! यह जय बोलकर हमने किसकी जय बोली? उस कल्पित स्त्री की नहीं जो कहीं भी नहीं है। तब क्या यह जय हिन्दुस्तान के पहाड़ों, नदियों, रेगिस्तानों, पेड़ों, पत्थरों की बोली जाती है?

"नहीं"। उन्होंने जवाब दिया। लेकिन कोई ठीक उत्तर वे मुझे न दे सके।

"निश्चय ही हम जय उन लोगों की बोलते हैं जो भारतमें रहते हैं— उन करोड़ों आदमियों की जो उसके गांवों और नगरों में बसते हैं।" मैंने उन्हें बताया। इस जवाब से उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई और उन्होंने अनुभव किया कि जवाब ठीक भी है।

"ये आदमी कौन हैं? निश्चय ही आप और आपके भाई। इसलिए जब आप, भारतमाता की जय' बोलते हैं, तो वह अपने और हिन्दुस्तान भर के अपने भाई-बहनों की ही जय बोलते हैं। याद रखिए, 'भारतमाता' आप ही हैं और यह आप अपनी ही जय बोलते हैं।"

ध्यान से उन्होंने सुना। प्रकाश की उज्ज्वल रेखा उनके भोले-भाले चेहरों पर उदय होती हुई दिखाई दी। यह ज्ञान उनके लिए एक विचित्र था कि वह नारा, जिसे वे इतने दिनों से लगा रहे हैं, उन्हींके लिए था। हां, रोहतक जिले के गांव के उन्हीं बेचारे जाट-किसानों के लिए। यह

उन्हीं की जय थी। तव आइए, एक वार फिर मिलकर पुकारें—"भारतमाता की जय!"

सके वाद हम अन्धकार में दिल्ली की ओर वढे। रेल मिली और उसके वाद खूव आराम भी।

१६ सितम्वर, १९३६

: २ :

हिन्दुस्तान की समस्याएं

हमारे मुल्क के सामने इतने पेचीदा सवाल हैं, अन्दरूनी, घरेलू और वाहर के कि यह जरूरी है कि मुल्क के लोग—आप और हम—उनको समझें। हो सकता है कि सव उनके पेंच न समझें, लेकिन मोटे तौर से समझें; क्योंकि हम समझते नहीं तवतक उसमें अपना पूरा हिस्सा नहीं ले सकते। ऐसे खतरे के वक्त हमें क्या करना है, यह हम जानते हैं। एक मुल्क के, जो कि आजाद कहलाता है, महज नकशे पर या कितावों में आजाद लिख देने से तो उसकी सव मुश्किलें हल हो नहीं जातीं। आजादी के मायने यह हैं कि रास्ता खुल जाता है चलने का। रुकावटें निकल जाती हैं, कम-से-कम एकाध मोटी रुकावट निकल जाती है। लेकिन उसके वाद हम किधर जायें, कैसे जायें और किसकी टांगों पर जायें, यह तो हमें खुद फैसला करना है। अपने आपसे कुछ नहीं हो जाता।

अक्सर लोगों का यह खयाल था और है कि स्वराज्य आने पर हमारे सारे दुःख और तकलीफें दूर हो जायंगी। हम सव चाहते थे। वड़े-वड़े नकशे हमने वनाये, लेकिन वाकया तो यह है कि काफी तकलीफें हैं। कुछ वढ़ भी गई हैं पहले से, यह भी सही है। कुछ घट गई हैं। क्यों हुआ यह? यह हमें समझना चाहिए, क्योंकि जवतक हम सम-

झते नहीं तबतक उन सब तकलीफों और मुश्किलों को हटा नहीं सकते। खाली बैठकर औरों को बुरा-भला कहना, इससे सवाल हल नहीं हो जाता। इसलिए यहां एक यह जरूरी बात हो जाती है कि हम मोटी-मोटी बातों को, जो देश के सामने हैं, समझें। क्यों कोई खराबी है? किस बात से हमें फायदा होता है, किस बात से नुकसान? यह आपके और हमारे लिए एक गौर करने की बात है। एक बहुत बड़ा आदमी हमारे देश में आया और उसने हमें एक रास्ता दिखाया। उस रास्ते पर चल कर हम दूर तक गये और आखिर में मुल्क को आजाद किया। दुनिया पर भी एक बड़ा जबरदस्त असर पड़ा। हमारी इज्जत हुई। क्यों हुई? हमारी और आपकी किसी खास वजह से नहीं; लेकिन हमारे जो यह बड़े नेता थे, उनके नाम से और उनके काम की वजह से इज्जत बढ़ी। हमारे देश भर को उन्होंने ऊंचा किया। फिर जब एक ऐसे रास्ते से चलकर हमें इतने फायदे हुए तो आसानी से उस रास्ते को छोड़ना नहीं चाहिए। आसानी से अपने उन सिद्धांतों को, जो उन्होंने बताये थे, भूलना नहीं चाहिए।

लेकिन आजकल में देखता हूं कि बहुत लोग उन्हें भूल-से गये और कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता है कि खास बड़ी संस्था, जिसका पालन-पोषण उन्होंने किया और बढ़ाया यानी कांग्रेस, उसमें भी लोग उनके सिद्धान्तों को भूल गये और भूलते जाते हैं। यह हमारे गौर करने की बात हो जाती है कि हम देश को किस तरफ ले जायें? कौन से रास्ते पर जायें? क्या उसूल हैं? सिद्धान्त हैं कि नहीं हैं? हमारा देश बहुत बड़ा भारी देश है, जिसके तरह-तरह के प्रान्त हैं, प्रदेश हैं, इलाके हैं, लोग हैं अलग-अलग; नीचे मद्रास से, कन्याकुमारी से ऊपर काश्मीर तक; बंगाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश और गुजरात; बम्बई, महाराष्ट्र, तामिलनाड़, बहुत बड़ा देश है। इधर-उधर आप चलिये तो आपको बोली अलग मिलेगी, पोशाक अलग मिलेगी, खाने-पीने का ढंग अलग मिलेगा। बहुत फर्क है; लेकिन फर्क होते हुए भी एक चीज उसको जोड़ती है। आजसे नहीं,

पुराने जमाने से जोड़ती है उसको। वह यह कि हम सब लोग हिन्दुस्तान के रहने वाले हिन्दुस्तानी हैं। भारत के रहने वाले भारतीय हैं, चाहे हम मद्रास में रहें या काश्मीर में या दिल्ली में। तो ये दो बातें आप देखते हैं। एक तो हमारे देश को जोड़ती हैं सब बातें; और एक यह कि देश में अनेकता है, अलग-अलग ढंग के लोग हैं और उसीके साथ हमारे देश में एक-दूसरे से लड़ने की भी आदत बहुत है। तो फिर किस तरह से हम अपने देश को मजबूत करें; क्योंकि खाली देश को आजाद कर देना यह तो काफी नहीं है।

आजाद देश अगर दुर्बल हो जाय, कमजोर हो, तो उसकी आजादी निकल जाती है और वह फिर गुलाम हो सकता है। यह तो बार-बार हुआ है। हमरा देश आजाद भी रहा है और गुलाम भी रहा है और फिर आजाद हुआ और फिर गुलाम हुआ। यह तो हमारी शक्ति पर है, समझपर है, अक्ल पर है। इसलिए लोग समझें कि हमारा काम पूरा हो गया और हम इत्मीनान से लम्बे पड़ जायं तो फिर हमारे देश की आजादी छिन भी सकती है। आपमें से कुछ लोग तो कम-से-कम आजकल की दुनिया का हाल जानते होंगे। लड़ाई-झगड़े-फसाद का हाल है। अक्सर बड़ी जंग की बात हो रही है। ऐस खतरनाक समय पर दुनिया में हम कैसे जिन्दा रह सकते हैं और अपनी तरक्की कर सकते हैं? एक ही तरह से—अपनी शक्ति से, अपनी ताकत से, अपने ऊपर भरोसा रखकर। ताकत कैसे आती है? आपसमें मिलकर काम करने से, अपना रास्ता, अपने उसूल चुनने से, उसपर कायम रहने से; क्योंकि उसूल के मायने यह हैं कि उनपर कायम रहें।

महात्माजी जब आये थे हमारे पास, बाईस-तेईस बरस हुए, इस सियासी मैदान में हिन्दुस्तान के, तो पहले दो-तीन बातें उन्होंने हमें सिखाई थीं। पहली बात उनमें यही थी कि हमें आपस में मिलकर काम करना है और अंग्रेजी राज्य का मुकाबला करना है। अंग्रेजी राज्य कोशिश करता था हममें फूट पैदा करनेकी—हर तरह की, चाहे वह हिन्दू-मुसलमान में हो,

चाहे हिन्दू-सिख में हो, चाहे हिन्दू-हिन्दू में हो, चाहे अलग-अलग प्रान्त में हो। वह फूट पैदा करते थे हमें कमजोर करने को और हम चाहते थे कि हम मिल कर उनका मुकाबला करें, और जिस दरजे मिले उतनी ही हमारी ताकत बढ़ी और आखिर में उनको अलग कर दिया।

और बातें गांधीजी ने हमें क्या बताई थीं ? यह कि हममें ऊंचता और नीचता नहीं होनी चाहिए। हमारे हरिजन भाई हैं, जिनको हम जाने कितने पुश्तों से दबाये हुए हैं। यह बात खत्म हो जानी चाहिए। सबोंको बराबर का हक होना चाहिए। यह एक बुनियादी बात थी। उसपर भी हमने चलने की कोशिश की, कुछ दूर गये, बहुत दूर नहीं। हमने कानून बना भी दिये कि सब बराबर हैं; लेकिन यह खाली कानून की बात नहीं है। यह तो हमारे रोजमर्रा के चालचलन की बात है कि हम बराबर करें और ऊंचता-नीचता कम हो।

उन्होंने और बहुत सारी बातें बताई थीं। उन्हें तो मैं नहीं कहता; लेकिन एक बड़ा सबक हमें सिखाया था कि हम लोगों को डरना नहीं चाहिए—अंग्रेजी हुकूमत से या कोई भी शख्स जुल्म करता है उससे; क्योंकि जो लोग डरते हैं, वे दबा दिये जाते हैं। इन सब बातों का असर हमारी जनता पर बहुत दूर तक पड़ा है।

हम आजाद हुए और आप जानते हैं कि जैसे ही हमारा देश आजाद हुआ, बदकिस्मती से उसी समय हमारे देश का एक टुकड़ा देश के बाहर निकल गया और पाकिस्तान बना। हमारी मंजूरी से निकला, हमने स्वीकार किया। क्यों किया ? मैं इसमें नहीं जाता; लेकिन इसलिए किया, अगर एक फिकरे में कहूं, कि हम नहीं चाहते थे कि आपस में एक-दूसरे से लड़ा करें। इस तरह का मेल नहीं होता कि हर वक्त लड़ाई-झगड़ा-फसाद हो और हमारी आजादी भी न आये। तो हमने सोचा, सही या गलत, यह तो इतिहास कहेगा, कि बेहतर है इसको करना। इसके बाद शायद मेल हो जाय। लेकिन इसके बाद हुआ क्या आप जानते हैं ? एक तूफाने बदतमीजी उठा। पाकिस्तान भर में, पूर्वी पंजाब में। वह दिल्ली के दरवाजे तक पहुंचा,

दिल्ली के शहर तक आया और दिल्ली के चारों तरफ हुआ। एकदम से अजीब हालत हमारी हो गई। हम लोग, जोकि बड़े ऊंचे सिद्धान्त के लोग थे और जो लम्बी-चौड़ी बातें कहते थे, वहशियाना बातें करने लगे—लड़ाई-झगड़े की, फूट की, मार की। अजीब हालत थी! हमारा देश दुनिया में बदनाम हो गया और हम कमजोर हो गये।

ये सब पुरानी कहानियां हैं। मैं उनमें ज्यादा नहीं जाता; लेकिन मैंने आपको याद इसलिए दिलाया कि इस समय हम अपने दिमाग को साफ करलें कि हमें किस रास्ते पर चलना है। जो बातें, जो सिद्धान्त महात्माजी ने बताये थे, उन पर हम रहें या किसी नये रास्ते पर चलें? कम-से-कम जो बुनियादी सिद्धान्त उनके थे उनका आपको निश्चय करना है।

आजकल आप जानते हैं कि हमारे सामने एक नया खतरा आया है। पाकिस्तान में आजकल लड़ाई की चर्चा है, लड़ाई की तैयारी है, लड़ाई की धमकी है, काश्मीर के सवाल पर। यह सवाल अर्से से, करीब चार बरस से, चल रहा है और कुछ थोड़ा-सा इसके निस्बत आपसे कहा भी चाहता हूं कि आप समझें कि हम काश्मीर क्यों गये और क्यों वहां हैं और क्यों यह पाकिस्तान में गुल-शोर लड़ाई का हो रहा है? काश्मीर में जाने से कोई जायदाद हमें नहीं मिल गई, कोई फायदा हमें नहीं हुआ। काश्मीर के साथ आज नहीं, बीस-इक्कीस बरस से हमारा एक करीबी सम्बन्ध था; क्योंकि वहां बहुत सारे लोगों ने अपनी आजादी की आवाज उठाई थी और एक संस्था बनाई थी, जिसका नाम बाद में 'नेशनल कान्फ्रेंस' हुआ। उसके बड़े लीडर शेख अब्दुल्ला थे और उन्होंने काश्मीर की आजादी के लिए वहां के उस वक्त के महाराजा के खिलाफ बड़ा आन्दोलन शुरू किया। जाहिर है कि हमारी हमदर्दी उनसे भी थी, जैसे कि हमारी हमदर्दी हैदराबाद या राजपूताने या बड़ी-छोटी रियासतों में ऐसा आंदोलन करने वालों के साथ थी। हम सारे हिन्दुस्तान को एक समझते थे और आजाद किया चाहते थे। तो बीस-इक्कीस बरस काश्मीर में आजादी की लड़ाई हुई, लोग दबाये गये, जेल गये, गोली चली, जैसे कि होता है। कोई पांच-छः

बरस हुए कि इस सिलसिले में मैं भी वहां गया था और वहां के जो महाराजा साहब थे, उस वक्त उन्होंने मुझे जाने से भी रोका था और आखिर में मुझे गिरफ्तार किया था। कहने का मतलब यह है हमारा और काश्मीर का रिश्ता कोई फौजी रिश्ता नहीं है। यह रिश्ता है उन लोगों का जो आजादी के लिए लड़ते थे, काश्मीर में या और हिस्सों में हिन्दुस्तान के। बीस वरस से चला आता था और हम मुकाबला करते थे अंग्रेजी हुकूमत का और जो उस हुकूमत के साये में थे—बड़े-बड़े राजा-महाराजा, निजाम, नवाब—उनका। आप देख सकते थे कि जिस वक्त से अंग्रेजी हुकूमत का साया हटा, ये सब बड़े-बड़े राजा-महाराजा एकदम से कमजोर पड़ गये और उनमें कोई ताकत न रही और उनका राज्य खत्म हो गया। हमसे उनसे समझौता हो गया, हमने उनको पैन्शनें दे दीं। उनके साथ अच्छा वर्ताव किया; लेकिन उनकी शक्ति नहीं रही, शक्ति उनकी थी ही नहीं। शक्ति तो अंग्रेजी हुकूमत की थी, जो उनके पीछे थी।

तो यह काश्मीर में याद रखने की बात है कि बीस वरस से आजादी की जंग हुई। हम तो दूर थे, हमारी हमदर्दी थी, लेकिन वह जंग वहां के रहनेवालों ने की। खास तौर से उसे करने वाली जो बड़ी जमात थी, वह वहां की 'नेशनल कांफ्रेंस' थी जिसके लीडर शेख अब्दुल्ला थे और उनके साथी थे। उसमें काश्मीर के रहने वाले मुसलमान, हिन्दू, सिख वगैरा सब थे। जाहिर है, उसमें मुसलमान ज्यादा थे, बहुत ज्यादा; क्योंकि वहां के रहने वाले ज्यादातर मुसलमान हैं। वह एक आम लोगों की जमात थी। जिस जमाने में यह बात हो रही थी उस वक्त वे लोग, जो आजकल पाकिस्तान के हाकिम हैं, क्या करते थे? यह जरा आप लोगों को याद रखना है। मुश्किल तो यह है कि बाहर मुल्कों के लोग तो कुछ इन वाकियात को जानते नहीं और हर वक्त झूठ सुनकर गलत असर उनके दिमाग पर हो जाते हैं।

जिस जमाने में काश्मीर की आजादी की लड़ाई हुई, उस समय मुस्लिम लीग और वे लोग, जो आजकल बड़े हाकिम और ओहदेदार हैं पाकिस्तान

में, वे सब रियासतों में—खाली काश्मीर को छोड़िये—आजादी की जो तहरीक थी, उसकी मुखालफत करते थे। उनके बड़े-से-बड़े आदमी, खासकर काश्मीर में जो यह नेशनल कान्फ्रेन्स आजादी के लिए लड़ती थी, उसकी और आजादी की मुखालफत करते थे और अक्सर महाराजा की हुकूमत की तरफदारी करते थे। यह होता था। फिर आखिर में जब सवाल हमारी आजादी का आया और पाकिस्तान बनने वाला हुआ उस वक्त महाराजा की हुकूमत ने जेल से शेख अब्दुल्ला को और दूसरों को छोड़ा, मजबूर होकर। हमारी सलाह यह हुई उन लोगों को कि काश्मीर में रहने वाले जो खुद से करेंगे, वह मुनासिब है, और हमने कहा कि इसमें कोई जल्दी नहीं है। जो आप मुनासिब समझें, तय करें। मामला आसानी से चल रहा था। सोच रहे थे कि काश्मीर का विधान क्या हो और काश्मीर का सम्बन्ध क्या हो हिन्दुस्तान से, पाकिस्तान से, किसी से? हम उसमें कोई जबरदस्ती नहीं करना चाहते थे। हां, हमारी ख्वाहिश थी कि वह हमारे साथ आयें, क्योंकि हमारा पुराना ताल्लुक था और हमें उम्मीद थी कि वे आयेंगे इसी ताल्लुक की वजह से; लेकिन कोई दबाव नहीं था।

ऐसे मौके पर यकायक काश्मीर पर पाकिस्तान से हमला हुआ। हमला हुआ और बेरहमी का हमला। इस तरह से वहां से फौजें आईं, कबायली आये और लूट-मार, जलाना, शहर को तबाह करना शुरू किया। यह नहीं कि किसको तबाह करते हैं! चाहे वह हिन्दू हो, चाहे मुसलमान, दोनों लूटे गये। वहां मर्द-औरत कत्ल किये गए, ईसाई भी। कोई फर्क नहीं। लुटेरों की तरह से आये थे और इस बात की फिक्र थी कि तेजी से हम ज्यादा-से-ज्यादा लूट सकें। बड़ा बिजली का कारखाना वहां था, जिससे सारे काश्मीर की वेली (घाटी) में रोशनी होती थी। उसको तोड़ दिया। हमारे पास खबर आई। यह पौने चार या चार बरस की बात है। काश्मीर दूर है। आप जानते हैं कि पहाड़ी मुकाम है। हम क्या करें? हमारी कोई फौजें तो वहां थी नहीं, कुछ नहीं। हम बड़े परेशान हुए। हमने सोचा कि अगर यह बात बढ़ती गई तो काश्मीर बिल्कुल तबाह हो जायगा। आप जानते

होंगे कि काश्मीर में जो कारीगर रहते हैं, उनका मुकाबला दुनिया में बहुत कम लोग कर सकते हैं। वड़े ऊंचे दर्जे की चीजें बनाते हैं। काश्मीर आज नहीं, हजारों वर्ष से दुनिया में मशहूर है। हमने सोचा कि मशहूर काश्मीर बिल्कुल तबाह हो जायेगा, इन लुटेरों के पीछे और इसका फिर बनाना मुश्किल हो जायगा। हमने यह भी सोचा कि अगर हम इस वक्त उसकी इस बात को रोकने की कोशिश नहीं करते तो यकीनन इसका नतीजा यह होगा कि आज नहीं तो कल, मुकाबला करना पड़ेगा इन लोगों का और लड़ाई होगी। बड़ी लड़ाई होगी हिन्दुस्तान में और पाकिस्तान में। उस वक्त तक हमें यह खयाल नहीं था कि काश्मीर की लड़ाई कोई बड़ी होगी। हम समझते थे कि हजार दो हजार लुटेरे आ गये हैं। उनको हटाना है। आखिर में हमने फैसला किया कि हम खामोश नहीं रह सकते और मैं आपको बताऊं कि हमने छः बजे शाम को इस बात का फैसला किया। शायद २५ या २६ अक्तूबर सन ४७ को और हमने अपने फौजी अफसरों से कहा कि जल्दी-से-जल्दी तुम्हें वहां जाना है, क्योंकि एक-एक दिन की कीमत थी। अगर एक-दो दिन की देर हो जाती तो मुमकिन है कि श्रीनगर पर कब्जा हो जाता दुश्मन का और वहां जो एक हवाई अड्डा है उस पर भी दुश्मन का कब्जा हो जाता। फिर हम जाही नहीं सकते थे वहां। रातोंरात हमारे यहां तैयारी हुई। पहले की तैयारी तो थी नहीं और न हमारे पास सामान ही है बड़े मुल्कोंका-सा। छः बजे शाम को हमने फैसला किया था और छः बजे सुबह हवाई जहाज हमारी फौजों को वहां ले गये। वे हवाई जहाज जो मामूली यानी सफरी जहाज हैं, सिविल जहाज हैं, उनपर हमने रातोंरात कब्जा किया और उन पर हमने फौज को भेजा। ज्यादा फौज नहीं, कोई अढ़ाई-तीन सौ आदमी शुरू में भेजे। वे ऐसे पहुंचे कि हवाई जहाज के अड्डे से उतरकर फौरन उनको लड़ना पड़ा। पांच मील, सात मील के फासले पर दुश्मन आ गया था। अगर वे १२ घंटे, एक दिन बाद जाते तो नहीं पहुंच सकते थे। खैर, वे लड़े और उन्होंने आखिर में उनको हटाया। फिर और फौजें पहुंचती गई और

उनको वहां वैली से हटा दिया। जब ज्यादा हटाया तो एकदम से देखा कि बड़ी फौजें मौजूद हैं, वहीं पीछे। वह पाकिस्तान की बड़ी फौजें थीं। हमें मालूम नहीं था। खयाल था कि वहां हों। फिर लड़ाई बड़ी हो गई। उस लड़ाई का सिलसिला साल दो साल तक चला।

इसके बाद में लड़ाई रुक गई यानी एक आरजी सुलह तो नहीं—एक आरजी लड़ाई रोकने का इन्तजाम हुआ, जिससे लड़ाई रुकी। इस अरसे में, वहां जाने से पहले, काश्मीर के लोगों से—वहांकी हुकूमत से और वहां के लोगों से—एक समझौता हुआ था। वे हमारे हिन्दुस्तान में शरीक हो गये और हमारी जिम्मेदारी हो गई उनकी मदद करने की और उनको बचाने की।

हमने बहुत कोशिश की कि पाकिस्तान से हमारी लड़ाई ज्यादा न बढ़े। यूनाइटेड नेशन्स में, अमेरिका में उसकी इत्तला की। यूनाइटेड नेशन्स के लोगों को कहा कि देखिये, पाकिस्तान ने हमला किया है और इसको रोकना चाहिए, हटाना चाहिए। वे पेंच में पड़े और तब से वह सिलसिला चलता जाता है। कोई फैसला नहीं हुआ। अब इस वक्त क्या हाल है? पहली बात मैंने आपको बताई कि मामला क्या है। आप देखें कि काश्मीर के एक हिस्से पर पाकिस्तान की फौज का अधिकार है, ज्यादातर हिस्से पर काश्मीर के। काश्मीर की हुकूमत अपना काम कर रही है और बहुत अच्छा काम कर रही है। बावजूद इस लड़ाई-झगड़े के उन्होंने बहुत तरक्की की है हर तरह से। और यहां तक की कि मैं कहने को तैयार हूं कि हिन्दुस्तानके अक्सर और हिस्सों से ज्यादा। नये-नये कानून बनाये हैं। वहां के जो काश्त-कार हैं, वहां की जो जमीन पर काम करते हैं, उनको बेहद फायदा हुआ है। जमीन उनकी हो गई है। यहां वर्षों से कोशिश कर रहे हैं। अबतक पूरा नहीं हुआ। हजार रुकावटें पड़ती हैं। कभी कानून की, कभी अदालत की, कभी इसकी, कभी उसकी। लेकिन वहां रुकावटें कम थीं। उन्होंने तेजी से उनको दूर कर काम कर लिया। यह सब किया। अब यह गुलशोर पाकिस्तान में किस बात का

है ? इसके मायने क्या ? यानी अजीब हालत है कि एक तो आकर हमला करें, कायदे-कानून के खिलाफ एक निहायत बहशियाना हमला, और ऊपर से गुलशोर मचाएं, गोया कि उनपर किसी ने हमला किया ! यह अजीब बात है कि एक चोर चोरी करे और दूसरों पर इलजाम लगाये और गुलशोर मचाये । एक अजीब पेंच में हम पड़ गये ।

आप देखिए—हमारा काश्मीर में जो कुछ कानूनी हक वगैरा हो—हमें कानून ने नहीं, बल्कि उनकी हुकूमत ने बुलाया उनको बचाने को उनकी बड़ी-से-बड़ी जमात, जनता ने बुलाया और उसकी मर्जी से हम वहां हैं । अगर वे नहीं चाहें हमारा रहना तो हम वहां से चले आएं । कोई जबरदस्ती तो है नहीं । लेकिन हमारा जो कुछ हक काश्मीर में हो या न हो, सवाल तो यह है कि पाकिस्तान का हक किधर से आगया ? वह तो किसी सूरत से नहीं आता—न कायदे से, न कानून से । उसकी फौजें वहां गईं और किस तरह से वहां हैं ? इस बहस में वे एक बात पेश करते हैं और वह यह कि काश्मीर में ज्यादातर मुसलमान हैं । कसरत से मुसलमान रहते हैं । इसलिए पाकिस्तान में उसको होना चाहिए ।

यह उनकी बड़ी बहस है और यह एक ऐसी बात है कि इससे और मुल्कों के लोग धोखे में पड़ जाते हैं क्योंकि उनका खयाल यह होता है कि हिन्दुस्तान के जो दो टुकड़े हुए तो मुसलमान एक तरफ चले गये, हिन्दू वगैरा दूसरी तरफ रहे । यह सही बात है कि पाकिस्तान में कसरत से मुसलमान हैं । लेकिन बावजूद इसके आप जानते हैं कि हिन्दुस्तान में चार करोड़ मुसलमान रहते हैं । काफी बड़ी तादाद में सारे हिन्दुस्तान में फैले हैं, और यह कहना किसी का कि हिन्दुस्तान का टुकड़ा अलग हुआ किसी मजहब के ऊपर, यह हम मंजूर करने को तैयार नहीं हैं । यह मुस्लिम लीग वाले कहते हैं और किसी कदर इसमें असलियत हो सकती है वाकियाती; लेकिन हमने इसको मंजूर नहीं किया; क्योंकि इस उसूल को हम मंजूर कर लेते तब इसकी बहुत दूर तक पहुंच होती । हमने मंजूर यह किया था—गलत या सही— कि एक हिस्से में अगर वहां

की कसरत हो जाय तो वे लोग जा सकते हैं, हम किसी को जबरदस्ती नहीं रखना चाहते। चुनांचे सिन्ध, पश्चिमी पंजाब, सरहदी सूबा और उधर बंगाल के एक हिस्से में राय लेने की बात हुई। वह बहुत अच्छा तरीका नहीं था। गलत-सही, जो कुछ हो, लेकिन एक तरीका लोगों की राय लेने का था और उन्होंने कहा कि हम अलग होना चाहते हैं। चुनांचे मजहब के उसूल पर नहीं, बल्कि लोगों की राय लेने के उसूल पर वह अलग किये गए; क्योंकि अगर मजहब के उसूल पर किये जाते तो बड़े पेंच होते। इसके अलावा जो बुनियादी उसूल हमारे मुल्क का था, जो हमारे विधान में है, या कांग्रेस के उसूलों में या गांधीजी ने कहा था वह खत्म हो जाता। अगर मजहब के उसूल पर कौमें बनती हैं मुल्कों में तो हिन्दुस्तान में एक कौम नहीं, दो कौम नहीं, दस कौमें, बीस कौमें हैं, फिर एक हिन्दू राष्ट्रीयता हो और एक सिख ही और एक मुस्लिम हो, एक ईसाई हो और एक बौद्ध हो, एक यहूदी हो और एक जैन हो, तरह-तरह के। इस तरह कोई मुल्क तो नहीं बनता है। मुल्क तो बनते हैं कि एक मुल्क के रहने वाले, एक वतन के रहने वाले हों, कुछ भी उनका मजहब हो, वे अपने उस देश को अपना देश समझते हैं और उस देश के वे नागरिक समझे जाते हैं। मुस्लिम लीग ने जो कहा था वह तो एक कसौटी थी। वह तो एक निकम्मी है, जो उन्होंने कही थी और दुनिया में, आजकल की दुनिया में, कहीं है नहीं। हां, पुराने जमाने की दुनिया में, चार-पांच सौ बरस हुए, वैसी बातें होती थीं। आजकल कोई भी मुल्क इस उसूल पर ज्यादा दिन नहीं चल सकता और पाकिस्तान भी नहीं चल सकेगा।

हिन्दुस्तान एक बड़ी दुनिया है। अनेक चीजें इसमें अच्छी-अच्छी हैं; लेकिन हमें उनको जोड़ना है। कुछ जोड़ा था, इसलिए हम मजबूत हुए, आजाद हुए। अब अगर उस जोड़ को, उस सीमेंट को, हम कमजोर कर दें तो खाली हिन्दू और मुसलमान का सवाल नहीं रहता, फिर कहां-कहां से वह सीमेंट टूटता है, कहां-कहां से अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग जातियों में, और मुश्किल तो यह है कि हमारे यहां आजकल नहीं, एक

पुराने जमाने से काफी जाति-विद्वेष है। हिन्दुओं में काफी जाति-भेद हैं, कितनी जातियां हैं, ऊंच, नीच, बीच की। जब ये जातियां बनी थीं तो शायद उससे कुछ लाभ हुआ था देश को हजारों वर्षों में। ठीक था, उस समय हो सकता था, यह इतिहास की बात है; लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाद में उस चीज ने देश को कमजोर किया, देश में एकता नहीं हो सकी। हरएक जातवाले समझें कि हमारी जात है, हम अपने को बचावें—दूसरा चाहे गिर जाय। इससे देश कमजोर हुआ और इससे देश बार-बार गुलाम हुआ है पिछले जमाने में। और इसी वजह से महात्माजी ने पहला सबक यह रखा था कि जाति-भेद और धर्मों से हमें अपने मुल्क को कमजोर नहीं करना चाहिए। अलग-अलग धर्म हैं लोगों के, वे रहें। ठीक है; लेकिन हमें मिलकर हिन्दुस्तान की सेवा करनी चाहिए और आपस में झगड़े नहीं पैदा करने चाहिए। तो यह बड़ी बुनियादी बात हो जाती है। हममें जो यह जाति-भेद है उसको हम कम न करें तो हमारी हिन्दू-जात भी दुर्बल रहती है। तो आजकल की दुनिया में, जो नई दुनिया है उसको हमें समझना है। बहुत सारी हमारी पुरानी बातें बहुत ऊंचे दरजे की हैं, उनको हमें रखना है; लेकिन जो पुरानी बातें कमजोर करती हैं उनको अगर हम रखें तो हम भी दुर्बल हो जायंगे और फिर गुलाम होंगे।

ऐसे मौके पर जब कि हमारा और पाकिस्तान का रिश्ता बहुत नाजुक हो गया है और हर वक्त वहां लड़ाई की चर्चा है, हम सोच-समझ कर चलें। अब लड़ाई हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में कोई छोटी नहीं, एक बड़ी बात है। सबके लिए एक खतरनाक और एक तबाही की बात है। लड़ाई में आखिर हम जीत जायं, वह दूसरी बात है, लेकिन तबाही होगी उनकी, हमारी, आपकी; क्योंकि आजकल की लड़ाई से किसी मुल्क को फायदा नहीं होता। इसीलिए हमारी बड़ी नीति सारी दुनिया में यह रही कि लड़ाई न हो। हमने आवाज उठाई और इससे लोग नाराज भी हो गए। बड़े-बड़े मुल्क कहते हैं कि तुम हमारा साथ नहीं देते। कोई बड़ी लड़ाई दुनिया में हुई तो दुनिया बिलकुल तबाह हो जायगी, इसमें कोई शक-शुबह नहीं और

हम लड़ाई में शरीक न भी हों तब भी हमारा मुल्क काफी तबाह हो सकता है। अभी आपने सुना होगा कि कोरिया में जंग हो रही है साल भर से। छोटा-सा मुल्क है। बड़े-बड़े मुल्क उसकी छाती पर बैठ कर लड़ रहे हैं और वह मुल्क बिलकुल तबाह हो गया है। चुनांचे कोई अकलमन्द इंसान लड़ाई नहीं चाह सकता है। खाली एक जोश में बगैर समझ के कोई कह दे इस बात को, वह बात दूसरी है; क्योंकि तबाही को तो कोई नहीं चाहता।

तो फिर हम ऐसे मौके पर करें क्या? मैंने वहां लियाकत अली खां साहब को कई तार और खत भेजे हैं। अखबारों में छपे हैं। आपने भी देखा होगा। हमने बार-बार जोरों से कहा कि जो भी कुछ हमारी किसी बात पर रंजिश हो पाकिस्तान से, हम लड़ाई से उसको हल नहीं किया चाहते। कोई सवाल हो, चाहे काश्मीर का हो, चाहे कोई और हो, मैंने कहा और कहने को तैयार हूं कि किसी सूरत से हम पाकिस्तान से लड़ाई नहीं करेंगे, सिवाय उस हालत के जब कि पाकिस्तान हमारे मुल्क पर हमला करे। उनको दावत दी थी कि आप भी यह कह दीजिए तो दोनों का इत्मीनान हो जाये कि लड़ाई नहीं होगी। फिर देखा जाये। उन्होंने जवाब दिया। उसमें कहा कि हां, यह बात ठीक है; लेकिन काश्मीर के निस्बत में कहने को तैयार नहीं और बातों में कहने को तैयार हैं कि हिन्दुस्तान में और पाकिस्तान में लड़ाई न हो; लेकिन काश्मीर को अलग रखो। इसके मायने क्या? इसके मायने यही न कि वह हक रखा चाहते हैं काश्मीर पर हमला करने का और लड़ाई करने का। तो हमने कहा कि अगर आपने काश्मीर पर हमला किया तो लड़ाई खाली काश्मीर में नहीं रहेगी; फौरन वह फैल जायगी सारे पाकिस्तान और सारे हिन्दुस्तान के बीच में। मेरा खयाल है कि यह कहने से अरसे से लड़ाई रुक भी गई है; क्योंकि फिर लड़ाई छोटी नहीं रही। बड़ी लड़ाई के खतरे से लड़ाई रुक गई है और मैं उम्मीद करता हूं कि और भी रुक जायेगी।

बुनियादी बात, जिसका दूर तक असर है, यह है कि पाकिस्तान ने यहां आवाजें उठाई थीं जिसे अंग्रेजी में 'टू नेशन थ्योरी' कहते हैं, यानी मजहब से उसकी कौमें बनती हैं, मुल्क बनते हैं। जैसा कि मैंने आपसे कहा था,

हिन्दुस्तान में एक राष्ट्रीयता नहीं है, वल्कि दस हैं। पाकिस्तान के उसूल से वे मजहबों पर चलती हैं। सिख अलग हैं, ईसाई अलग, मुसलमान अलग, हिन्दू अलग, वगैरा-वगैरा। इससे हमने इन्कार किया। उन्होंने इस बात को काश्मीर में लागू करने की कोशिश की। काश्मीर के लोगों ने यानी काश्मीर के मुसलमानों ने इससे इन्कार किया।

मालूम है आपको, आज नहीं कोई आठ-दस वरस हुए, जिन्नासाहब काश्मीर गए थे और बहुत जोरों से कोशिश की थी कि काश्मीर को अपने कब्जे में लायेंगे। काश्मीर अपने कब्जे में लाने का एक ही तरीका था। वहां की जो बड़ी जमात थी नेशनल कान्फ्रेंस और शेख अब्दुल्ला, उन पर असर डालना। उनकी खातिर-तवाजो हुई। वे बुजुर्ग थे। लेकिन जहां उनसे बहस हुई, काश्मीर के लोगों ने, मुसलमानों ने, साफ कहा कि हम आपकी मुस्लिम लीग में नहीं आते और मुस्लिम लीग के उसूलों को हम मंजूर करने को तैयार नहीं हैं; क्योंकि वे फूट डालने के उसूल हैं। हम मिलकर यहां काम करते हैं और हम पसन्द करेंगे कि हिन्दुस्तान में भी मिल कर काम हो, मुख्तलिफ मजहब वालों में। जिन्नासाहब इससे बहुत नाराज हुए।

काश्मीर से वह नाखुश हो कर आए कि उनकी बात नहीं मानी गई। इस वक्त काश्मीर में जो बड़ा सवाल है और काश्मीर वाले मुसलमान और हिन्दू वगैरा जिस बात पर लड़ रहे हैं वह यह है कि वे कहते हैं कि हम अपनी जिन्दगी बसर करेंगे मिल कर। मिल कर अपनी हुकूमत बनायेंगे। मुस्लिम लीग का जो पहला उसूल था और पाकिस्तान का है यानी मजहबी हुकूमतें और 'टू नेशन थ्योरी' उसे हम नहीं मानते। वही उसूल, जिस पर काश्मीर वाले लड़ रहे हैं, हमारा उसूल है। हमारे विधान में वह लिखा है और कांग्रेस का भी वही उसूल था।

मैं आपसे कहना चाहता हूं कि मेरे दिल में जरा भी घबराहट और डर पाकिस्तान की तरफ से नहीं है। एक मुश्किल सवाल है। उसका सामना किया जाय तगड़े हो कर; लेकिन जिससे मुझे फिक्र रहती है हर वक्त वह यह है कि हमारे मुल्क में कोई गलत बात न हो, जिससे हम अन्दरूनी तौर से

कमजोर हों और दुनिया के सामने झूठे साबित हों; क्योंकि हम अपने को कहते हैं एक सेक्यूलर स्टेट। इसके—सेक्यूलर डेमोक्रेसी के—क्या मायने हैं? मायने इसके यह नहीं हैं कि हम सबों ने अपने मजहब छोड़ दिये; बल्कि मायने यह हैं कि हरएक आदमी अपने मजहब को आजादी से रखे। लेकिन हुकूमत किसी एक मजहब को आगे न रखे, हरएक को पूरी तौरपर हर बात में आजादी हो। यह हमने कहा। यह पाकिस्तान का उसूल नहीं है। तो हममें और पाकिस्तान में फर्क क्या रहा, अगर हम उनके उसूल को मान लें जैसे कि यहां की कुछ साम्प्रदायिक संस्थाएं चाहती हैं। इसलिए यह जरूरी है कि हम अपने यहां ऐसे मौके पर किसी के भड़काने में न आएं और न झगड़ा-फसाद—मजहबी हो चाहे और किसी ढंग का—करें; क्योंकि उससे ज्यादा आप कोई मदद दुश्मन की नहीं कर सकते हैं।

अभी चर्चा थी रेल की हड़ताल की। इस वक्त मैं यह बात नहीं जानना चाहता कि रेल के कर्मचारियों की क्या मांग थी, उनके ऊपर क्या मुसीबत है, क्या नहीं है। वह दूसरा सवाल है; लेकिन इतना जरूर कहूंगा कि ऐसे मौके पर जब कि मुल्क के सामने इतने बड़े खतरे हैं यह आवाज उठाना, हड़ताल का इशारा भी करना एक बड़ी गलत बात है। यह भी मैं जानता हूं कि रेलवालों की तरफ से यह कहा गया है कि अगर कोई खतरा आया तो हम हड़ताल नहीं करेंगे। मैं मानता हूं कि उन्होंने ऐसा कहा है और मुझे यकीन है कि हड़ताल नहीं करेंगे; लेकिन क्या मायने हैं इसके कि ऐसे खतरे तक बैठा रहना कि तोप-बन्दूक चलने लगे? ऐसे मौके पर हमें कोई ऐसी बात नहीं करनी चाहिए जिससे मुल्क अन्दर से कमजोर हो। मुल्क को ताकत अन्दर से आती है। हमारी फौजें खाली थोड़ी लड़ती हैं। फौज तो लड़ती है; लेकिन फौज को सामान जाता है कारखानों से। फौज के पीछे रेलें हैं, वगैरा। फौज को खाना जाता है। यह सब लड़ाई का, खाने का सामान वगैरा जब जाता है तभी तो फौजें लड़ती हैं। अगर सामान बन्द हो जाय, कारखाने बन्द हो जायं, ठीक न चलें, रेल न चलें और हम काम न करें, तो फौज कैसे लड़ें ?

एक और बात का मैं आपके सामने जिक्र किया चाहता हूं। आप जानते हैं कि कांग्रेस की शायद ६६-६७ बरस की उमर है। सन् १८८५ में पैदाइश हुई थी इसकी। काफी उमर हो गई और काफी ऊंच-नीच देखी कांग्रेस ने और आखिरी २०-३० बरस में काफी बड़े जंग उसने लड़े और काफी बड़े-बड़े आदमी पैदा किये। हिन्दुस्तान के इतिहास में तो इसका नाम है ही, बड़े हरूफों में नाम है; क्योंकि कांग्रेस एक बड़ी संस्था थी। बड़े नेता उसने पैदा किये; लेकिन उससे भी बड़ी जो बात उसने की वह यह कि एक जमाने के लिए बरसों कांग्रेस एक मायने में एक नमूना हो गई, एक निशानी हो गई—हिन्दुस्तान की जनता की आरजुओं की और जजबात की और ताकत की, कमजोरी की और हर चीज की, और उसी ताकत से वह अंग्रेजी हुकूमत से लड़ी, खाली अपनी संख्या की ताकत से तो नहीं। वह एक चीज़ थी और इसीलिए करोड़ों की हमदर्दी उसकी तरफ हुई।

जो उसका अव्वल काम था, यानी मुल्क की आजादी हासिल करना, वह उसने हासिल की और एक मायने में उसका अव्वल फर्ज खत्म हो गया। यह सही है कि महज सियासी आजादी से काम पूरा नहीं होता। बड़े-बड़े काम बाकी हैं और खास कर मुल्क के आर्थिक सवाल जो हैं—गरीबी, बेकारी वगैरा के, उनको हल करना है। कोई फर्ज नहीं है कि कांग्रेस ही उनको हल करे। सबों को करना है, सबों का फर्ज है। सवाल यह उठता है और हमारे सामने बार-बार आया, आज नहीं चार-पांच बरस से—महात्माजी भी उस वक्त थे—कि कांग्रेस किस ढंग से काम करे। कई रायें इस पर हुईं। हमने देखा कि एक मायने में एक राय हो सकती थी कि कांग्रेस का काम पूरा हुआ, अब अलग-अलग संस्थाएं काम करें; लेकिन जहां हमने देखा, इस बात पर विचार किया; हमने यह भी देखा कि मुल्क में कितने टुकड़े-टुकड़े-से हो रहे हैं। आजादी की लड़ाई में लोग मिल कर लड़ते थे; लेकिन एक चीज हासिल हो गई और लोगों को इत्मीनान हो गया तो अलग-अलग रास्तों पर चलने लगे, अलग-अलग गिरोह बनने लगे, अलग-

अलग दलवन्दी होने लगी, जिससे मुल्क कमजोर होने लगा। अव मुल्क के सामने खतरा है।

कांग्रेस इस जमाने तक एक कड़ी थी, जो मुल्क को जोड़ती थी, मुख्तलिफ कौमों को, मुख्तलिफ लोगों के खयालों को एक तरफ डालती थी। जाहिर हैं, ख्यालात को तो आप रोक नहीं सकते; लेकिन कांग्रेस ने इस कड़ी का काम किया। हमारे सामने सवाल यह आया कि अगर कांग्रेस कड़ी का काम न करे तो क्या नतीजा हो। हो सकता था कि वाज वातों में कुछ थोड़ा फायदा हो; लेकिन दूसरी तरफ यह नजर आता था कि अगर यह जोड़ने की कड़ी निकल जाती है तो काफी नुकसान हो सकते हैं और फिर एकदम से टुकड़े-टुकड़े हिन्दुस्तान के हो जाते हैं। खतरे हमारे सामने काफी हैं, मैं आपको वताऊं। अगर इस वक्त कोई खतरे न होते, क्या वाहर के, क्या अन्दर के, इस चार-पांच वरस में जो गुजरे, तो मेरी जाती राय होती कि कांग्रेस ने अपना काम खत्म किया और शान से खत्म किया। अव अपने वाल-वच्चों पर उसे छोड़ देना चाहिए। अपने-अपने रास्तों पर चलें, नई जमातें वनें; लेकिन जव मैं देखता था कि क्या हाल है वाहर की दुनिया का, कितने खतरे हैं, दुश्मन हैं और जव मैं देखता था कि अन्दर भी हमारा क्या हाल है और कैसे ऐसी-ऐसी ताकतें उठ रही हैं, जो तोड़ने की हैं, संभालने की नहीं और जव मैं देखता था कि पाकिस्तान वनने के वाद पाकिस्तान का और हमारा रिश्ता कितना तकलीफदेह हो गया और जव मैं देखता था कि इस पाकिस्तान के उभरने से कैसे एक चीज हमारे मुल्क में वढ़ गई—यही साम्प्रदायिक वातें—तव मुझे डर मालूम होता था कि कांग्रेस के इस वक्त वन्द कर देने से, चाहे उसमें कितने ही ऐव या खरावियां हों, वड़ा खतरा है। फिर टुकड़े-टुकड़े हो जाते। चाहे कुछ भी क्यों न हो; लेकिन जो टुकड़ा है उसमें ताकत नहीं है मुल्क को संभालने की और मुल्क को आगे ले जाने की। आजकल मुल्क में वहुत सारी संस्थाएं हैं। मैं वाज संस्थाओं को इन्तहा दर्जे निकम्मा समझता हूं, गलत समझता हूं, वाज को खतरनाक समझता हूं। वाज को मैं कोई खास वुरा नहीं समझता। उसूली तौर से भली हैं, मुझे

कोई खास ऐतराज नहीं; लेकिन मैं उन सबों को देख कर यह नहीं पाता कि किसी में यह ताकत है कि मुल्क को संभाल सके—सारे मुल्क को, एक कोने को नहीं। एक कोने में आम चुनाव हों और आप दस सीट जीत जायं, मुझे उसमें दिलचस्पी नहीं है। मैं तो देखता हूं कि यह खास मौका, जरूरी मौका, दुनिया के इतिहास में है कि हिन्दुस्तान मिलकर खतरों का मुकाबला कर सके। अगर उसके सौ टुकड़े हो गये और सौ दल आये तो किसी की जिम्मेदारी नहीं। आपस में लड़ेंगे या आपस में आरजी समझौते करेंगे। कोई मजबूत हुकूमत हिन्दुस्तान में ऐसे कायम नहीं होगी। यह बात इस वक्त के लिए खतरनाक है।

इसलिए मैं समझता था और समझता हूं कि कांग्रेस को खत्म करना या कमजोर करना गलत बात है। और बावजूद इसके कि कांग्रेस में हजार बातें हुई जो मुझे पसन्द नहीं थीं और अब भी बातें हो रही हैं जो मुझे पसन्द नहीं हैं, मैंने अपनी राय में कांग्रेस को एक दूसरे रास्ते पर झुकाने की कुछ कोशिश की। फिर भी यह मेरी राय रही और है कि कांग्रेस को कमजोर करने से दूसरे की ताकत नहीं बढ़ती। कोई भी ताकत वाली चीज इस तरह मजबूत नहीं रहती।

अब दूसरा सवाल उठता है और माकूल सवाल है कि आखिर यह सही है; लेकिन कांग्रेस क्या कर रही है और वह ठीक रास्ते पर है कि नहीं ? इसके जवाब में कई दे सकता हूं। कह सकता हूं कि उसूली तौर से जहां तक उसके प्रस्ताव वगैरा हैं, माकूल हैं और उस रास्ते पर चलने की कोशिश कर रही है। उसीके साथ यह भी मुझे जवाब देना पड़ेगा कि अक्सर बातें कांग्रेस में फूट पैदा करती हैं और अगर कांग्रेस में फूट हुई तो मुल्क में एकता हम कैसे पैदा करें ? अगर अपने घर को हम नहीं संभाल सकते तो औरों को कैसे कहें कि तुम संभलो और आपस में मिल कर रहो ?

ये बड़े-बड़े सवाल सफाई से मैंने आपके सामने रक्खे और जो मेरे दिमाग में कशमकश है वह बताई। उसका सामना करना चाहिए। भागने

से तो कुछ होता नहीं, न घबराने से। आखिर भाग कर आदमी कहां जाए? काम करना है। तीस-चालीस-पैंतालीस बरस काम करते हो गये। अब जो कुछ चन्द बरस और बाकी हैं, वह काम में खर्च होंगे—हिमालय की चोटी पर बैठ कर तो नहीं होंगे। किस ढंग से काम हो, यह दूसरा सवाल है। मेरी तो अर्से से यह ख्वाहिश थी कि कुछ तबियत ऊब गई थी मेरी इस ओहदे से, जो कि एक जमाने से—साढ़े चार बरस हो गए या ज्यादा—मेरे ऊपर रखा गया है, प्राइम मिनिस्टर बनाया गया है, जो बहुत ऊंचा ओहदा है, एक जबरदस्त जिम्मेदारी है और मैंने इतने दिन तक उसको बर्दाश्त किया। खैर, मुमकिन हैं, काबलियत हो, मुमकिन है और भी कुछ हुनर हों, लेकिन आखिर में किसी कदर बेहयाई से बर्दाश्त किया। मुमकिन है, ज्यादा हयादार लोग न करते इसको इस ढंग से बर्दाश्त; लेकिन हयादारी और बेहयाई का सवाल तो नहीं। सवाल तो अपने को भूल जाकर एक काम को सोचना है, किस तरह से काम मजबूती से हो सकता है, किस तरह से जो काम उठाया, उसको आगे बढ़ा सकते हैं? पूरा करने का सवाल तो होता नहीं; क्योंकि मुल्क के जो बड़े-बड़े काम होते हैं वे कभी पूरे नहीं होते। एक पुश्त अपना फर्ज अदा करती है फिर दूसरी पुश्त आती है और आगे बढ़ती है। इस तरह से अगर हमारे इस जमाने के लोगों के हाथ में एक मशाल है मुल्क की आजादी की, तो उनका फर्ज है कि उसको ऊंचा रखें जलते रहने में और जब उनके हाथ कमजोर हों तो औरों को पकड़ायें, जवान हाथों को। तो काम तो नहीं खत्म होता, लेकिन कम-से-कम उस काम को जितना अपनी ताकत और दम होता है करना होता है। उससे कोई हट भी नहीं सकता है और हटने की आदत भी नहीं रही है।

मैंने चन्द मोटी-मोटी बातें आपके सामने रखीं, जो मेरे खयाल में थीं और इस बात की कोशिश की कि आप उन पर ध्यान दें और समझें; क्योंकि मसले बड़े हैं और आजकल की दुनिया बड़ी सख्त है। नरम दुनिया नहीं है कि हम एक नरमी से पेश आकर और गुल-शोर मचाकर और नारों से कोई बात कर लें। लड़ाई के दरवाजे पर हम रहते हैं, चाहे दुनिया की लड़ाई

के या कोई ज्यादा करीब की, तो हमें शान्त रहना है, आपस में मिल कर रहना है, कोई झगड़ा नहीं करना है और अपने उसूलों पर कायम रहना है।

९ अगस्त, १९५१

: ३ :

किस रास्ते और किन साधनों से ?

बड़ी-बड़ी घटनाओं के किनारे पर हम फिर खड़े हुए हैं। हमारी नाड़ियां फिर जोर से फड़कने लगी हैं, पैर कांपते हैं और पुरानी पुकार हमारे कानों में आ रही है। अपनी मामूली मुसीबतों को हम भूल जाते हैं और घरेलू चिन्ताओं को एक ओर डाल देते हैं। आखिर उनका मूल्य है ही क्या ? पुकार आती है और हम सबकुछ भूल जाते हैं। भारत, जिसे हमने प्रेम किया है और जिसकी सेवा हमने करनी चाही है, वह धीमे-से कुछ कहता है और जादू का मन्त्र हम तुच्छ प्राणियों के ऊपर फूंक देता है।

पर कुछ व्यक्ति उतावले हैं और अपनी जवानी की तरंग में आरोप लगाते हैं—'यह देरी क्यों ? हमारी नसों मे जब खून दौड़ता है और जीवन पुकार कर कहता है कि आगे बढ़ो, तब हम मन्द गति से क्यों चलते हैं?' ओ भारत के युवको और युवतियो ! आप परेशान न हों; झुंझलाने या उतावले बनने की भी जरूरत नहीं है। जल्दी ही वक्त आयगा जब इस भारी बोझे में आपको सहारा देना होगा। आगे बढ़ने की पुकार भी आयगी और गति भी, जितना आप सोचते हैं, उससे तेज होगी; क्योंकि अज्ञात भविष्य की ओर बेतहाशा दौड़ लगाकर दुनिया ने आज गति पैदा कर ली है और हममें से कोई भी खड़ा नहीं रह सकता—चाहे खड़ा रहना चाहे या न चाहे—जब कि हमारे पैरों तले की धरती ही हिल रही है।

समय आयगा। तब वह हमें तैयार पावे, दिल से मज़बूत, शरीर से गतिशील और मन और ध्येय से दृढ़। अपनी राह भी हमें जिस पर चलना है, हम अच्छी तरह पहचानें, जिससे सन्देहों के हमले हम पर न हों और विचारों का भेद हमारे निश्चय को कमज़ोर न करे।

अपने मंज़िले-मक़सूद को हम पहचानते हैं। अपना ध्येय और दिल की चाह भी हमारे सामने हैं। उन पर बहस करने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन हमारी राह क्या है जो हमें चलनी है? कौन से तरीके हमें बरतने हैं, और कौन से उसूल हमारी क्रियाओं पर संरक्षण रखते हैं? ये बातें भी, निश्चय ही, बहस के लिए नहीं हैं। बरसों पहले ही हमने वह रास्ता रोशन कर दिया है और ठीक कर दिया है, जिससे दूसरे वक्त खुले रास्ते पर चल सकें। बीस बरस पहले बहुत-से लोगों ने इस सीधे और सही रास्ते की शक्ति पर संदेह किया होगा, लेकिन आज मार्ग-दर्शन के लिए हमारे पास भारी अनुभव है और सीख देने के लिए हमारी अपनी सफलताएं और असफलताएं हैं। उस रास्ते से हटाने की कोशिशों के बावजूद भी हम दृढ़ निश्चय के साथ उस पर अड़े हुए हैं, और भारत के लाखों व्यक्तियों ने उस रास्ते के महत्व को समझा है और अब वे उस पर इतने पाबन्द हैं कि जितने पहले कभी नहीं थे। कांग्रेस अपना दृढ़ विश्वास उसमें दिखाये जा रही है; क्योंकि उसके लिए दूसरा मार्ग है ही नहीं।

पर फिर भी आवश्यक है कि चीज़ों को अधिक मान कर हम न चलें और इस नाज़ुक घड़ी में नये सिरे से उस मार्ग के फलितार्थों की जांच करें और पूरे दिल से और मन से उन्हें स्वीकार करें। समय अब सिद्धान्तों या बेकार के ख्याली पुलाव बनाने का नहीं है। आवश्यकता काम की है, और काम के लिए मन और प्रयत्न की संलग्नता चाहिए। सन्देह की फ़िलासफ़ी या बहस-मुबाहिसे की आरामदेही की उसमें इजाज़त नहीं है। उससे भी कम इजाज़त है उन व्यक्तियों या दलों को कि वे अपनी विरोधी क्रियाओं से उस ध्येय को एक तरफ़ डाल दें और उसकी जड़ पर कुठाराघात करने की चुनौती दें।

यह आवश्यक है कि हम इस प्रश्न पर खुल कर विचार करें और स्पष्ट और अन्तिम निर्णयों पर आवें, क्योंकि एक नई पीढ़ी उठ खड़ी हुई है जिसकी जड़ हमारे पुराने अनुभव में नहीं है और जो दूसरी ही भाषा बोलती है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो खुले तौर पर या छिपकर और हमारी ही संस्था की आड़ से हमारे तौर-तरीकों और सिद्धान्तों के प्रति घृणा प्रकट करते हैं। हो सकता है, जैसा कि हमें अच्छी तरह से विश्वास है कि ये सन्देह करने वाले और विरोधी लोग कम ही हैं और इस बड़े देश-व्यापी आन्दोलन का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते, लेकिन यह सम्भव है कि बहुत से लोगों के दिमागों में वे गड़बड़ पैदा कर दें और ऐसी घटनाएं घटादें जिससे हमारे ध्येय को हानि पहुंचे। अतः ध्येय की स्पष्टता और निर्णय का होना जरूरी है। और जो हलचल हमारे सामने है, उसमें अनावश्यक खतरा हम नहीं ले सकते।

उन्नीस बरस पहले कांग्रेस ने अपने कामों में अहिंसा का तरीका ग्रहण किया था। इन गुजरें सालों में बहुत से अवसरों पर हमने अहिंसा के प्रयोग भी किये हैं। इनसे हमने संसार को प्रभावित किया और उससे अधिक महत्वपूर्ण यह कि हमने अपने-आपको प्रभावित किया और जो कुछ हमने किया या जिस प्रकार हमने वह किया उससे हमने अपूर्व शक्ति पाई। परतन्त्र राष्ट्र का पुराना मार्ग—या तो गुलामी या हिंसक विद्रोह—अब हमारे लिए नहीं है। हमारे पास अब एक शक्तिशाली हथियार है जिसका मूल्य—हमारी बढ़ती शक्ति और उसके बारे में समझ बढ़ने के साथ बढ़ता जाता है। यह एक ऐसा हथियार है जिसका प्रयोग कहीं भी किया जा सकता है; लेकिन भारत की योग्यता तथा वर्तमान स्थिति में वह विशेष रूप से उपयुक्त है। हमारा निज का उदाहरण है जो उसका समर्थन करता है, और जो हमें दिलासा और उत्साह प्रदान करता है। लेकिन पिछले वर्षों की विश्व की घटनाओं ने यह दिखा दिया है कि हिंसक तरीके बेकार हैं और वहशियाना हैं।

मेरे खयाल से हममें से कुछ ही कह सकते हैं कि हिंसा का युग समाप्त

हो गया था जल्दी ही उसके समाप्त होने की सम्भावना है। आज हिंसा अपने बहुत ही गहन, विध्वंसकारी और अनानवीय रूप में बढ़ रही है। उतनी वह पहले कभी नहीं बढ़ी। लेकिन उसकी तेजी ही उसके पतन का चिह्न है। वह या तो स्वयं समाप्त होगी या संसार के बहुत बड़े भाग को समाप्त कर देगी।

"तलवार हमेशा की तरह मूर्खों के लिए अपनी मूर्खता छिपाने का एक साधन है।"

लेकिन हम मूर्खता और पागलपन के युग में रहते हैं और हमारे शासक और मानवी संबंधों को देखन-भालने वाले इसी युग की असली उपज हैं। हर रोज हमारे सामने यही खूंखार समस्या है—हिंसक आक्रमण का मुकाबला कैसे किया जाय? क्योंकि इसके अतिरिक्त बहुधा और कोई मार्ग नहीं है कि बुराई के आगे चुपचाप झुक जाओ और उसके हाथ में अपने को सौंप दो। स्पेन ने बलपूर्वक हिंसक आक्रमण का विरोध किया और यद्यपि अन्त में उसकी पराजय हुई, लेकिन उसके लोगोंने साहस और वीरता-पूर्ण धैर्य का शानदार उदाहरण उपस्थित कर दिया। मित्रों ने उनका साथ छोड़ दिया, फिर भी ढाई बरस तक फ़ासिस्ट आक्रमण की बाढ़ को उन्होंने रोके रखा। उनकी हार के बाद आज भी कौन कहेगा कि वे गलती पर थे; क्योंकि उनके लिए दूसरा सम्मान-पूर्ण मार्ग खुला हुआ नहीं था। अहिंसात्मक तरीका उनके दिमाग में नहीं था और वैसे भी उन परिस्थितियों में, वह उनकी पहुंच के बाहर था। यही चीन में हुआ।

चेकोस्लोवेकिया अपनी सबल शक्ति और असंदिग्ध साहस के बावजूद बिना लड़े पराजित हो गया। ठीक है, पराजय उसकी हुई; क्योंकि उसके मित्रों ने उसके साथ विश्वासघात किया, लेकिन फिर भी सचाई यह है कि उसकी तमाम शक्ति उसकी आवश्यकता के समय कारगर साबित नहीं हुई। पोलैण्ड तीन सप्ताह की हलचल में एकदम समाप्त हो गया और उसकी भारी फ़ौज और हवाई जहाजों के बेड़े न जाने कहां विलीन हो गये।

हिंसक मार्ग और सशस्त्र शक्ति आज तात्कालिक सफलता के संकुचित-से-संकुचित अर्थ में तभी संभव है जबकि सशस्त्र शक्ति अपने विरोधी से अधिक बलवती हो, अन्यथा बिना युद्ध के समर्पण कर दिया जाता है या जरा-सी हलचल के बाद ही पतन हो जाता है और साथ आती है घोर पराजय और अनैतिकता। साधारण हिंसा को एकदम त्याग दिया गया है, क्योंकि विजय की कोई संभावना भी उनसे नहीं होती और इससे पराजय और फूट का भय फैल जाता है।

भविष्य में भारत का क्या होगा, यह हमारे अन्दाज से बाहर है। यदि भविष्य में सशस्त्र राष्ट्रीय शक्ति की आवश्यकता रहती है तो हममें से अधिकांश के लिए यह कल्पना करनी भी मुश्किल है कि बिना राष्ट्रीय फौज और 'बचाव के अन्य साधनों के' भारत स्वतंत्र होगा। लेकिन वैसे भविष्य पर विचार करने की हमें आवश्यकता नहीं है। हमें तो बस वर्तमान पर विचार करना है।

इस वर्तमान में सन्देह और कठिनाइयां नहीं उठतीं; क्योंकि हमारा कर्तव्य स्पष्ट है और मार्ग निश्चित है। वह मार्ग भारतीय स्वाधीनता की समस्त रुकावटों का निष्क्रिय प्रतिरोध करना है। उसके अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है। इसके बारे में हमें बिलकुल स्पष्ट हो जाना चाहिए; क्योंकि विभिन्न दिशाओं में मन के खिंचते रहने की दशा में कोई काम शुरू करने का साहस हमें नहीं करना चाहिए। ऐसा कोई दूसरा मार्ग है, जो हमें प्रभावशाली कार्य के अवसर की छाया मात्र भी दे सकता है, मैं नहीं जानता। वास्तव में अगर हम दूसरे मार्गों के बारे में सोचते हैं तो वास्तविक कार्य हो ही नहीं सकता।

मेरा विश्वास है कि इस प्रश्न पर अधिकतर कांग्रेसजन एकमत हैं। लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं जो कांग्रेस के लिए नये हैं। वे दिखाने के लिए तो एकमत हैं; लेकिन करते दूसरी तरह से हैं। वे अनुभव करते हैं कि कोई रा ट्रीय या देश-व्यापी अन्दोलन उस समय तक नहीं चल सकता जबतक कांग्रेस द्वारा वह न चलाया जाय। उसे छोड़ कर और जो

कुछ होगा वह तो दुस्साहस होगा। इसलिए वे चाहते हैं कि कांग्रेस से पूरा लाभ उठावें और साथ ही उन दिशाओं में भी चले जावें जो कांग्रेस की नीति के विरुद्ध हैं। उनका प्रस्तावित सिद्धान्त तो यह है कि वे कांग्रेस में अपने को मिलाये रहें और फिर उसके बुनियादी धर्म और कार्य-प्रणाली को हानि पहुंचावें, विशेषकर अहिंसा के सिद्धान्त के अमल को रोका जाय, बाहर से और प्रकट रूप में नहीं; बल्कि धोखेबाजी से और अन्दर से।

अब प्रत्येक भारतीय को स्वतन्त्रता है कि वह अपने प्रस्तावों और विचारों को आगे लाकर रखे, उनके लिए काम करे और अपने दृष्टिकोण पर दूसरों को राजी करे। उनके अनुसार वह आचरण भी करे, यदि वह सोचता है कि वैसा करना आवश्यक है। लेकिन दूसरी किसी चीज की आड़ में ऐसा करने की उसे स्वतन्त्रता नहीं। वह जनता को गलत रास्ते ले जाना होगा। और ऐसे धोखे से जन-आन्दोलन नहीं उठ खड़े होते। कांग्रेस के प्रति वह नमकहरामी होगी और अनुचित समय में आन्दोलन से नाजायज फायदा उठाना होगा। यदि विचारों का कोई विरोध है तो इसमें भलाई ही है कि वह सामने आये और लोग उसे समझें और अपना निर्णय करें। किसी भी समय ऐसा होना चाहिए, विशेषकर बड़ी घटनाओं के प्रारम्भ होने से पहले। कोई भी संस्था आंतरिक विघ्न-बाधाओं को बरदाश्त नहीं कर सकती जबकि वह शक्तिशाली दुश्मन से मुठभेड़ करने की परिभाषा में सोचती है। अपनी जनता में उस समय अनुशासन-हीनता या मत-भेद ठीक नहीं है जबकि समय ऐसा है कि हम सबको काम में लग जाना चाहिए।

अतः हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पूर्ण स्पष्टता और निश्चय के साथ हम इन मामलों को तय करें। जहां तक कांग्रेस का सम्बन्ध है, बेशक हमने तय कर लिया है और उस निर्णय पर हम दृढ़ रहेंगे। दूसरा कोई भी मार्ग प्रभावशाली नहीं है और उसमें राष्ट्र के लिए खतरा है।

यदि हम वैसा विचार करें तो भारत में गड़वड़ मचा देना हमारे लिए कठिन नहीं है; लेकिन गड़वड़ में से जरूरी तौर पर या आम तौर पर भी स्वाधीनता नहीं निकलती। भारत में गड़वड़ की स्पष्ट सम्भावनायें हैं जिनका फल अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण निकलेगा। हम हमेशा अपने काम के परिणामों के वारे में भविष्यवाणी नहीं कर सकते, विशेषकर उस हालत में जब हम जनता के वल पर उस काम को करते हैं। खतरे हम उठाते हैं, और उठाने ही चाहिए। लेकिन ऐसा कुछ करना तो अकल्पनीय मूर्खता होगी जो उन खतरों को वहुत वढ़ा दे और हमारी स्वतन्त्रता के मार्ग में रोक लगादे और हमारे आन्दोलन में से उस नैतिकता को ही उठा ले जिस पर कि इतने वरसों से हमें गर्व रहा है। ऐसी दशा में जबकि संसार हिंसक तरीकों से चूर-चूर हो रहा है, हमारे लिए उन्हें ग्रहण करने की वात भी सोचना एक भारी दुख की वात होगी।

इसलिए मजबूती और निश्चय के साथ हम अहिंसा पर दृढ़ रहें और उसके स्थान पर कुछ भी मिले, उसे अस्वीकार कर दें। हमें याद रखना चाहिए कि यह सम्भव नहीं है कि विभिन्न तरीके साथ-साथ चालू रह सकें; क्योंकि ये एक-दूसरे को कमजोर करते हैं और एक ओर हटा देते हैं। इसलिए होशियारी के साथ हम अपना मार्ग चुनें और उस पर दृढ़ रहें। अन्य मार्गों के साथ खिलवाड़ करके उसे विगाड़ें नहीं। सबसे अधिक हम यह अनुभव करें कि अहिंसा अहिंसा है। यह एक ऐसा शब्द मात्र नहीं है कि मन के दूसरी तरफ काम करने पर भी उसे मशीन की तरह इस्तेमाल किया जा सके, मुंह से दूसरे शब्द और वाक्य निकलते हों जो उसके विरोधी हों और हमारे काम के विपरीत हों। यदि हमें अहिंसा तथा अपने और अपने ध्येय के प्रति ईमानदार रहना है तो हमें अहिंसा के प्रति सच्चा रहना होगा।

१९३८

: ४ :

सचाई का रास्ता

मैं आपके सामने आज के दिन, जो विशेष रूप से उसकी स्मृति के लिए समर्पित है, जिसे हम राष्ट्रपिता कहते हैं, क्या कहूं ? मैं इस समय आपके समक्ष भारत के प्रधानमंत्री की हैसियतसे नहीं, बल्कि जवाहरलाल की हैसियत से बोलूंगा, जो आपके समान ही भारत की स्वतंत्रता की लम्बी यात्रा में मुसाफिर रहा है और जिसको यह महान सौभाग्य मिला था कि भारत की और सत्य की सेवा का सबक उस गुरु के चरणों में बैठ कर सीखे। आजकल की समस्याओं के बारे में भी, जो हमारे मस्तिष्क में छाई हुई हैं और हमारे ध्यान को बराबर आकर्षित करती रहती हैं मैं ज्यादा नहीं कहूंगा। मैं उन मौलिक वस्तुओं के सम्बन्ध में चर्चा करूंगा जिन्हें गांधीजी ने हमें सिखाया। और जिनके बिना जीवन खोखला और छिछला बन जाता है।

उसने हमें केवल व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं, बल्कि सार्वजनिक जीवन और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में भी सत्य, प्रेम और साफ और खरा व्यवहार करना बताया। उसने हमें मनुष्यताका और श्रम का गौरव सिखाया उसने हमारे सामने इस पुराने सबक को फिर से रखा कि घृणा और उद्दण्डता से सिवाय घृणा, उद्दण्डता और विनाश के कुछ और नहीं निकल सकता। इस प्रकार उसने हमें निर्भयता, एकता, सहिष्णुता और शान्ति का रास्ता दिखाया।

इसकी शिक्षा पर हम किस हद तक चल सकते हैं ?—बहुत दूर तक नहीं—फिर भी इसके नेतृत्व में हमने बहुत-कुछ सीखा और शान्तिपूर्ण ढंग से अपने देश की स्वतंत्रता प्राप्त की। लेकिन ठीक मुक्ति पाने के समय हम भूल गए और बहक कर गलत रास्ते पर चल दिये, जिससे उस विशाल हृदय को बड़ा दुःख पहुंचा, जो सतत भारत के लिए, और उन सच्चाइयों और सिद्धान्तों के लिए, जो प्राचीनकाल से भारत के रहे हैं, फड़कता था।

आज क्या बात है ? जिस समय हम उसकी याद करते हैं, उसे सराहते हैं और बच्चों की तरह उसकी मूर्तियां स्थापित करने की बात करते हैं क्या उस समय हम यह सोचते हैं कि उसके सिद्धान्त क्या थे, जिसके लिए वह जीवित था और जिसके लिए उसने प्राण दिये ? मेरा खयाल है कि उसके सन्देश के अनुसार जीवन बनाने के लक्ष्य से हम अभी काफी पीछे हैं। लेकिन मेरा यह विश्वास है कि वे महान शक्तियां, जिन्हें उसने प्रचलित किया था, चुपचाप किन्तु जोरों के साथ काम कर रही हैं और भारत को उस ओर ले जा रही हैं जिधर ले जाने की उसे इच्छा थी। दूसरी शक्तियां भी हैं जैसे असत्य की, विनाश की, उद्दण्डता की, संकीर्णता की जो विपरीत दिशा में ले जा रही हैं। जिस प्रकार सारे संसार में अच्छाई और बुराई के बीच संघर्ष चल रहा है उसी तरह इन दोनों शक्तियों में भी निरंतर युद्ध जारी है। अगर हम गांधीजी की स्मृति का आदर करें तो हमें क्रियात्मक रूप से ऐसा करना होगा और उस लक्ष की प्राप्ति के लिए, जिसके वह प्रतिनिधि थे, निरन्तर प्रयत्नशील होना पड़ेगा।

मुझे अपने देश पर, अपनी राष्ट्रीय थाती पर और अनेक बातों पर अत्यन्त गौरव है। लेकिन मैं यह अभिमान-वश नहीं, नम्रतापूर्वक कह रहा हूं; क्योंकि घटनाओं ने मुझे अपमानित और बहुधा लज्जित किया है और भारत का वह स्वप्न, जो मैंने बना रखा था, कभी-कभी धीमा पड़ गया है। मैंने भारत से प्रेम किया, मैंने भारत की सेवा करने की कोशिश की इसलिए नहीं कि यह भौगोलिक दृष्टि से विशाल है, या इसलिए कि इसका अतीत महान था, बल्कि इसलिए कि मुझे वर्तमान भारत में विश्वास है और यह मेरी अटल धारणा है कि भारत सत्य, स्वतंत्रता और जीवन के ऊंचे आदर्शों पर आरूढ़ रहेगा।

क्या आप चाहते हैं कि भारत उन्हीं महान उद्देश्यों और आदर्शों का अनुगामी हो, जिन्हें गांधीजी ने हमारे सामने रखा है ? यदि चाहते हैं तो आपको वैसे ही सोचना और काम करना होगा। तब आप क्षणिक आवेशों के प्रवाह में बह नहीं सकते और न छोटे-छोटे प्रलोभनों में वशीभूत हो सकते

हैं। आपको ऐसी सब प्रेरणाओं को जड़ से खोद कर फेंक देना होगा जिससे राष्ट्र निर्बल होता हो, चाहे यह प्रेरणा साम्प्रदायिकता की हो, भेदभावना की हो, मजहबी तास्सुब की हो, प्रान्तीयता की या वर्ग-भेद की हो।

हम अनेक बार कह चुके हैं कि इस देश में हम साम्प्रदायिकता बरदाश्त नहीं कर सकते। हम स्वतंत्र-धर्म-निरपेक्ष राज्य बना रहे हैं, जहां हरएक मजहब और हर प्रकार के विश्वासों को बराबर की आजादी और इज्जत है, जहां प्रत्येक नागरिक को बराबर की स्वतंत्रता और बराबर के अवसर प्राप्त हैं। इसके होते हुए भी कुछ लोग अभी तक साम्प्रदायिक और भेद-भावना की भाषा का प्रयोग करते हैं। मैं आप को बताना चाहता हूं कि मैं इसके बिलकुल खिलाफ हूं और मुझे आशा है कि यदि आप गांधीजी के विचारों पर विश्वास रखते हैं तो आप लोग भी इसी तरह अपनी पूरी शक्ति से इसका विरोध करेंगे।

दूसरी बुराई प्रान्तीयता है और आजकल यह बहुत दिखाई देती है और खूब जोरों से है। बड़े-बड़े प्रश्न भुला दिये जाते हैं। इसका भी विरोध करना है और इसके खिलाफ लड़ाई करनी है।

हाल में, कुछ लोगों ने हिन्दुस्तान को आततायी कहा है। मैं केवल यही कह सकता हूं कि यह उनकी बेसमझी है। अगर भारत किसी दूसरी कौम के खिलाफ जबरदस्ती का रास्ता लेने लगे तो भारत सरकार में मेरा या मेरे साथियों का कोई स्थान नहीं रह जाता। अगर हम जबरदस्ती करने लगें तो हम अपने सिद्धान्तों के और गांधीजी की शिक्षा के प्रति विश्वासघात के अपराधी होंगे।

चाहे जो कुछ भी हो जाय हमें शान्ति से रहना चाहिए और गांधीजी द्वारा बताए हुए सत्य-पथ पर चलना चाहिए। अगर हम गांधीजी पर श्रद्धा और विश्वास रखें तो इसीमें भारत की सेवा है और आत्म-विश्वास भी, और इसी में इस देश का, जो हमें इतना प्रिय है, कल्याण भी है।

: ५ :

पहले योग्य बनो

अक्सर देखने में आता है कि बड़े लोगों के पास ऐसी चिट्ठियां आया करती हैं कि "मैं आपकी सेवा करना चाहता हूं।" यहां बड़े लोगों से मेरा मतलब उन राष्ट्रीय नेताओं से है जो दिनरात देश के काम में मशगूल रहा करते हैं। चिट्ठियां लिखने वाले अक्सर कालेजों के छात्र या हाई स्कूलों के लड़के ही हुआ करते हैं।

मुझे भी बहुत से लोग चिट्ठियां लिखा करते हैं कि हम आपकी सेवा में रह कर काम करना चाहते हैं। मैं उन्हें बहुत कड़े शब्दों में जवाब दे दिया करता हूं कि मुझे आपकी सेवा की आवश्यकता नहीं है। अगर मुझे सेवा लेनी होगी तो पहले मैं खुद अपने हाथ से अपना काम कर लिया करूंगा। हां, यदि मुझे खूब कस कर काम करने वाला और विश्वासी आदमी मिल जाय, जो कि अपनी बुद्धि से काम करे और उसे आगे बढ़ावे तो ऐसे आदमी को मैं खोज-खोज कर अपने पास रख सकता हूं, यानी उसे काम दे सकता हूं। लेकिन दुर्भाग्य तो यह है कि हिन्दुस्तान में ऐसे काम करने वाले लोग बहुत ही कम, बड़ी मुश्किल से, मिलते हैं। जो आया उसे कहां से काम दें? उनकी तरुणाई, हट्टा-कट्टापन या छैलापन देख कर काम दें?

अक्सर ऐसा होता भी है कि बिना किसी काम में योग्यता पाये, उस काम में यहां के लोग लग जाते हैं। जिस काम को हम उठावें, उसे पूरा करें और उसमें अच्छी सफलता हासिल करें। मान लीजिये, आपको एक मकान, या रास्ते का पुल बनाना है। आपको उसकी विद्या जबतक नहीं आती, आप कैसे उस काम को कर सकते हैं? वह काम तो बढ़ई और राज ही कर सकता है। पुल बनाने का काम इंजीनियर ही कर सकता है। इसी तरह राजनैतिक काम का भी है। जबतक आप उसे अच्छी तरह समझ न लें तबतक उसके अन्दर न उतरें। आपके पास दिल है, दिमाग है, आप उनसे काम लें। अपने आस-पास की चीजों का बहुत बारीकी से निरीक्षण करें। आपको ऐसा काम करना

चाहिए, जिसे दूसरा कोई आसानी से न कर सके। जब मैं इंग्लैण्ड में पढ़ता था, हमारे कालेज में, एक दिन अमेरिका के प्रेसिडेंट श्री रूजवेल्ट के चाचा आये हुए थे। उन्होंने लड़कों से पूछा, "क्या तुम लोगों में से कोई ऐसा छात्र है, जो १० सैकण्ड में १०० गज दौड़ सके?" अगर कोई लड़का १० सैकण्ड में दौड़ जाता तो उसकी तन्दुरुस्ती और काम की परख हो जाती। विना अभ्यास के १० सैकण्ड में १०० गज दौड़ने वाले विरले ही होंगे।

आजकल अक्सर यह देखने में आता है कि अगर कोई काम किसी को करने के लिए दिया भी गया तो वह उसे दूसरे पर छोड़ देता है। दूसरा तीसरे पर और तीसरा चौथे पर। इस तरह करने से वह पूरा ही नहीं हो पाता। छोटे-से-छोटा काम दिया जाता है, फिर भी वह पार नहीं पड़ता। छोटे कामों को भी जो बड़े काम की तरह समझ कर करता है, वही तरक्की कर सकता है। हमें छोटे-से-छोटे काम की भी कभी उपेक्षा न करनी चाहिए उसी से उस व्यक्ति के तमाम कामों की परख हो जाती है।

केवल किताबी शिक्षा से आजकल हमारा काम नहीं चल सकता और न आगे चल सकेगा। किताबी शिक्षा अलबत्ता हमारे काम में मदद पहुंचाती है, लेकिन आपको तो अपने हाथ, दिल, दिमाग, लगन और श्रद्धा से काम करना होगा। तभी आपकी कद्र होगी। काम तो उसी को मिलता है, जिसमें बुद्धि है और मेहनत करने को जो अपने में भरपूर ताकत रखता है। उसीकी दुनिया में कद्र होती रही है और काम भी उस व्यक्ति के पास स्वयं दौड़ कर आयेगा। लेकिन आज हिन्दुस्तान में यह खूबी नहीं दीख पड़ती। काम करने का जोश हममें बहुत ही कम समय तक रहता है और विना सोचे-समझे हम किसी भी काम में कूद पड़ते हैं। हम इससे बचें। गांधीजी २० साल से हमें काम करने का ढंग सिखाते आ रहे हैं। गांधीजी की शिक्षा से हिन्दुस्तान ने आज बहुत उन्नति कर ली है और हम लोग मिल कर, एक साथ मिल कर, कुछ काम करना भी उन्हीं की बदौलत सीख पाये हैं। मगर बड़े दुःख की बात है कि आज देश में कुछ ऐसे भी हैं जो देश की आजादी को

पसन्द नहीं करते, देश में फूट पैदा करना चाहते हैं और मिलकर काम नहीं करना चाहते। देश के काम करने वालों को इस पर गौर करना चाहिए।

तमाम दुनिया की हालत वदल रही है। हम कल जो नक्शे देख रहे थे, वे आज वदल गये हैं, और ये भी कल सवेरा होते ही वदल जायंगे। हिन्दुस्तान की हालत में भी जल्दी तव्दीली होगी। हम रोज अखवारों में पढ़ते ही हैं, लेकिन हमारे काम करने के तरीकों में तव्दीलियां नहीं होतीं। सत्ता व हुकूमत में तव्दीली हुआ ही करती है। सचाई व मेहनत का काम तो हमेशा एक-सा ही रहा है। जो उन तरीकों को अपनायगा, वही काम कर सकता है और वही अपनी तरक्की भी कर सकता है।

१९४०

: ६ :

नागरिकता का आदर्श

पुराने जमाने में राज्य करीव-करीव राजा का निजी अधिकार समझा जाता था। राजा का मुख्य काम अपनी प्रजा पर कर लगाना और वाहरी हमलों और भीतरी गड़वड़ और डाकुओं वगैरा से उसकी रक्षा करना था। अपने आदमियों को थोड़ा-सा सुरक्षित वनाकर ही उसका काम समाप्त हो जाता था। अगर वह इतना कर देता था और करों का वहुत कुचल डालने वाला वोझ नहीं लादता था, तो वह अच्छा राजा समझा जाता था। ऐसे राज्यों को 'पुलिस-राज्य' कहा गया है; क्योंकि सरकार का मुख्य कर्त्तव्य पुलिस के कर्त्तव्य की किस्म का था। हमारे भारतीय राज्य भी आज वहुत-कुछ उसी तरीके के हैं। जरूरी भेद वस इतना है कि उन्हें अपने आपको वाहरी हमलों से नहीं वचाना पड़ता। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी सरकार भी मुख्यतः पुलिस सरकार ही थी। उसने राज्य की शिक्षा, संस्कृति उद्योग, औषधि, सफाई की तरक्की के लिए कुछ नहीं किया। धीरे-धीरे

परिस्थितियों ने मौजूदा राज्य के अनेकानेक कामों में उसे दिलचस्पी लेने के लिए वाध्य किया, हालांकि उसकी दिलचस्पी आगे ज्यादा नहीं गई और उससे कुछ नतीजा भी नहीं निकला।

पहले-पहल शहरों में नागरिकों के लिए रक्षा-मात्र से कुछ अधिक करने के लिए विचार पैदा हुआ। शहरों में वहुत से आदमियों के निकट संबंध से सहकारी क्रियाओं और संस्कृति की उन्नति हुई। नागरिक आदर्श से यह विचार पैदा होता है कि नागरिकों को सामान्य मनोरंजन के साधन मिलने चाहिए। सड़कें और पुल, जो निजी तौर पर अधिकार में थे और जिन पर कर लगाते थे, वे सर्वसाधारण की सम्पत्ति हो गये और विना किसी तरह के कर के सवके लिए खुल गए। सफाई, रोशनी, पानी, शफाखाने, स्वास्थ्य-सम्वन्धी सहायता वाग-वगीचे, मनोरंजन के मैदान, स्कूल और कालेज, लाइब्रेरी और अजायवघर, वे सव म्युनिसिपैलिटी के हाथ में आ गए। आज म्यूनिसिपैलिटी का कर्तव्य यही नहीं है कि ये चीजें विना पैसे नागरिकों को उपलब्ध करा दे, वल्कि यह भी है कि कला-भवन, थियेटर, संगीत और, सवसे अधिक महत्वपूर्ण, हरेक नागरिक के लिए उपयुक्त घर की व्यवस्था करे। लेकिन स्पष्ट रूप से आज सवसे ज्यादा जरूरत तो खाने की है। और उस आदमी को जिसके पास खाना नहीं है, कला और संस्कृति देना तो उसकी हंसी उड़ाना है। इसलिए मौजूदा म्यूनिसिपैलिटी का आज कर्तव्य है कि वह देखे कि उसकी हद में कोई भूखा न मरे। जो आदमी वेकार हैं, उन्हें काम मिले और अगर काम की व्यवस्था न हो सके तो उन्हें खाना दिया जाय। यही आज नागरिकता का आदर्श है, हालांकि कोई ही म्यूनिसिपैलिटी उसको पूरा करती है। हिन्दुस्तान में अव भी उस आदर्श की झलक पाने से भी हम वहुत दूर हैं।

इस नागरिकता के आदर्श ने धीरे-धीरे राज्य पर भी अपना असर डाला और उसके साथ राज्य की चारों दिशाओं में प्रवृत्तियां वढ़ने लगीं। 'पुलिस-राज्य' वदल कर मौजूदा राज्य के रूप में—एक जटिल पैतृक सरकार जिसकी प्रवृत्तियों के वहुत से विभाग और दायरे हैं और हरेक

नागरिक के साथ उसके बहुत से सम्बन्ध हैं—परिणत कर दिया गया। उसे बाहरी हमले और भीतरी गड़बड़ से ही सुरक्षित नहीं रखा गया, बल्कि उसने उसे शिक्षा दी, उद्योगों का ज्ञान कराया, उसके रहन-सहन के दर्जे को उठाने की कोशिश की, सांस्कृतिक विकास के लिए उसे अवसर दिये, बीमें की योजना उसे दी, जिससे वह अनहोनी जरूरियात का मुकाबिला कर सके। और सब तरह के साधन उसे दिये और उसे काम और खाना देने का जिम्मेदार उसने अपने को बनाया। नागरिकता का आदर्श फैलता गया। आज वह मौजूदा सामाजिक विधान में जितना फैल सकता था उतना फैल गया है और जबतक वह विधान, जैसा कि वह है, रहता है, तबतक उसकी आगे तरक्की नहीं हो सकती।

सच्ची नागरिकता का आदर्श तो समाजवादी यानी कम्यूनिस्ट आदर्श है। उसका मतलब है कि आदमी की कोशिश से कुदरत जो सम्पत्ति पैदा करती है, उसका सामान्य उपभोग हो। यह आदर्श तभी पूरा हो सकता है जब मौजूदा सामाजिक विधान में तब्दीली हो और समाजवाद उसकी जगह चलाया जाय।

दिसम्बर, १९३३

: ७ :

शिष्टाचार

बहुत-से कारणों से अखबारनवीसी की दुनिया में मैं 'न्यूज' (खबर) समझा जाता हूं और अक्सर कहानियां बनाकर मेरे चारों ओर खड़ी की जाती हैं। जो लोग सार्वजनिक काम करते हैं वे अगर जनता में मशहूर हो जाते हैं तो उनकी अखबारी कीमत जरूर हो जाती है। मैं बहुत-से पत्रकारों और पत्र-प्रतिनिधियों के सम्पर्क में आता हूं और मुझे यह मानना चाहिए कि उन्होंने मेरे साथ हमेशा नम्रता का व्यवहार किया है और

उदारता दिखाई है—शायद इसीलिए कि उन्होंने मुझे अपनी-जैसी भावनाओं का पाया है। वास्तव में मैं उनके साथ एक तरह का भाई-चारा मानता हूं; क्योंकि पत्रकारों के-से विचार मुझमें हैं। दूसरी जगहों की तरह यहां मलाया में भी अखबार वालों ने मेरे साथ उतनी ही उदारता दिखाई है।

कुछ आलोचनाएं मेरे बारे में की गई हैं, और कभी-कभी जो कुछ मैंने कहा, या किया है, वह पसंद नहीं किया गया। ऐसा मैं चिढ़ कर नहीं कह रहा हूं। आलोचनाएं तो मुझे पसंद हैं। वे मुझे दूसरों की निगाहों से अपनी ओर देखने में मदद देती हैं। एक सवाल को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने का और मौजूदा जिन्दगी की उलझनों में सीधे सोचने का मौका भी मिलता है। और अगर अखवार ही आलोचना न करेंगे तो और कौन करेगा? अखबारों का यह सवसे मुख्य काम है और आजकल सार्वजनिक कामों में अखबारों को वहुत खास हिस्सा लेना है।

मुझ पर अपराध लगाया है कि मैं सभ्यता के खिलाफ काम करता हूं, सदाचार की मुझमें कमी है, मेजवानों के साथ में अभद्र हो जाता हूं और मुझे जिस तरह वर्ताव करना चाहिए उस तरह बर्ताव नहीं करता। ऐसे मामलों में मैं अनिवार्य रूप से पक्षपाती हूं और चाहे जितना मैं अवैयक्तिक या बाह्य रूप से इन वातों पर विचार करूं; लेकिन मेरी चेतना मुझे निष्पक्ष नहीं होने देती। फिर भी अपने वर्ताव का मैं निरीक्षण किया करता हूं और अपने कामों को और कथनों में भी व्यवस्था रखने की कोशिश करता हूं। इतने पर भी कभी-कभी भटक जाता हूं तो इसमें अचरज क्या है? काम इतने रहते हैं कि कभी उनका अन्त नहीं दीखता और इसीसे मेरी नसें विद्रोह कर वैठती हैं। मेरी जिन्दगी अजीवो-गरीव है।

ऊपर लिखी वातों का अपराधी मैं कहां तक रहा? मैं नहीं जानता कि इसका कारण किस हद तक जो कुछ मैंने किया है या कहा है, उसका मलाया के लिए अनोखापन है। यहांके उच्चवर्गीय वायुमण्डल में, जो सुन्दर है, पर दिखावटी भी है, मैं आया, लेकिन मेरे पैर खेतों, कारखानों और वाजारों की धूल से भरे थे और मेरा हाव-भाव या मेरे तौर-तरीके

उच्चवर्गीय विचारों के नहीं थे। और-और जगहों पर तो उच्चवर्गीय नियंत्रण खत्म हो चला है और असलियत की दुनिया लगातार उनके दरवाजे को खटखटा रही है और कभी-कभी अन्दर जाने का रास्ता भी वह बना लेती है।

मलाया में आने का मेरा खास विचार यह नहीं था कि यहां की भीड़ से मिलूं या उसे व्याख्यान दूं। मैं तो यहां के शान्तिप्रद दृश्यों के बीच विश्राम करने आया था; लेकिन भीड़-की-भीड़ मेरे पास आई और मुझे घेर लिया। उनकी चमकती हुई आंखों और अगाध प्रेम ने मेरे हृदय में प्रतिध्वनि पाई। हिन्दुस्तान की हमारी लड़ाई, हमारी आशा और भय, हमारी नवीन शक्ति और स्वावलम्बन, गरीबी और बेकारी का अंत कर देने का हमारा पक्का विचार, लम्बी-लम्बी वेदनामय रातें जो प्रभात होने से पहले बितानी होती हैं, ये सब बातें सुनने के वे इच्छुक थे। मैंने उन्हें ये बातें सुनाईं।

भीड़ जो मेरे पास आई उसे उच्चवर्ग के तौर-तरीकों की शिक्षा नहीं मिली थी। प्रबन्ध काफी न होने के कारण खूब धक्का-मुक्की हुई और गड़बड़ हुई। जब मैंने गड़बड़ को दूर करने के और तरीके अख्तियार किये तो कुछ आदमियों ने सोचा कि मैं आपे से बाहर हो गया हूं। ज्यादातर गड़बड़ की वजह तो यह थी कि बहुत से आदमियों को मैं दिखाई नहीं दे रहा था। मैं मेज पर खड़ा हो गया, ताकि आदमी मुझे देख लें। दूसरे मौकों पर मैं भीड़ को चीर कर शान्ति करने के लिए वहां पहुंच गया, जहां पर कि भीड़ बहुत ज्यादा थी।

इन छोटी-सी बातों का मैंने हवाला दिया है; क्योंकि इनकी आलोचनाओं से दूसरे और खास दोषों पर रोशनी पड़ती है। ये अजीब बातें थीं, जिनके मौजूदा पत्रकार आदी नहीं थे। उन्होंने उनका उलटा अर्थ लगाया या नाराजी जाहिर की।

यही बात मेरे व्याख्यानों के साथ हुई। कहीं पर तो उनकी रिपोर्ट ही गलत की गई; क्योंकि रिपोर्टर मेरे उद्देश्य को समझ नहीं सके। असल बात यह थी कि मेरा दृष्टिकोण बहुत से आदमियों के लिए अजीब था।

वे शायद पहले उसके बारे में सुन चुके थे और उन्होंने उसे पसन्द नहीं किया था और न उसको कोई विशेषता ही दी। अब जब वह तीक्ष्णता से बिना किसी लगाव-लिपटाव के उनके सामने आया तो वे हक्के-बक्के हो गए। उन्होंने मुझसे सीधे सवाल किये। मझे भी क्या उनके उत्तर सीधे ही नहीं देने चाहिए थे? लेकिन वास्तव में वह उनके लिए और जनता के लिए अशिष्टता होती।

अपने व्याख्यानों में मैंने सीधी-सादी भाषा में, जो कि पढ़े-लिखे और कुपढ़ दर्शकों की लम्बी-चौड़ी भीड़ के सामने बोलनी चाहिए थी, हिन्दुस्तान के मसलों को जितना वैज्ञानिक ढंग से समझा सकता था, समझाने की कोशिश की। मैं चाहता था कि मेरे आलोचक मुझे बताते कि कहां मैंने गलत तकरीर की। वह आलोचना और नाराजी से कहीं अधिक फायदेमन्द होता। हमारा फर्ज है कि मसलों को समझें और उन्हें सुलझावें, न कि उनसे इसलिए दूर भागें, क्योंकि हम उन्हें पसंद नहीं करते। मैंने हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कामों की आलोचना की और बताया कि हिन्दुस्तान अपनी आजादी के लिए लड़ रहा है। यही तो हमारी आजादी की लड़ाई की बुनियाद है। इसको साफ किये बिना हिन्दुस्तान के बारे में कुछ कहना ही बेकार होता। आदमियों के खयालात हमसे जुदा हो सकते हैं। अपने खयालात का उन्हें अधिकार है। लेकिन सवाल यह है कि आया इन अहम मसलों को इसलिए दबा लिया जाय कि उसे उच्च वर्ग के लोगों की नाजुक-दिली को चोट लगती है? अपनी तो मैं कहता हूं कि मशीन-जैसे आदमियों के लिए, जिनका अपना कोई अस्तित्व नहीं है और उन आदमियों की हां में हां मिलाते रहते हैं, जिनके हाथ में शक्ति है, उनके लिए मेरे दिल में जगह नहीं है। संगठित शक्ति को भी चाहिए कि अगर वह दूरदर्शी है और व.स्तविकता के सम्पर्क में रहना चाहती है तो उन्हें अधिक प्रोत्साहन न दे।

मुझसे पूछा गया है कि क्या मैं ब्रिटिश-विरोधी हूं, इसका विरोधी हूं, उसका विरोधी हूं? ये ऐसे सवाल हैं जिनसे पता चलता है कि सवाल करने

वाले ने हमारे आजकल के मसलों को विलकुल नहीं समझा है। हम तो इस विरोध की अवस्था से आगे वढ़ गए हैं। मैं तो विस्तृत और मुख्य-मुख्य लाइनों पर अपनी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करता हूं। अगर 'ब्रिटिश' का अर्थ 'ब्रिटिश' आदमियों से है तो मुझे ब्रिटिश-विरोधी क्यों होना चाहिए ? मैं खुद उनका वहुत अहसानमन्द हूं। उनकी भाषा और उनके साहित्य से मेरा सम्वन्ध है और उसमें वहुत से मेरे मित्र हैं; लेकिन मैं साम्राज्यवाद और साम्राज्य के खिलाफ हूं—जहां कहीं वह हो, क्योंकि मेरा अनुमान है कि वह दुनिया की प्रगति के रास्ते में रोड़े अटकाता है।

अगर हम मौजूदा हालतों से सन्तुष्ट नहीं हैं—और क्या कोई ऐसा बुद्धिमान और सचेत आदमी है जो सन्तुष्ट है—तो दुनिया के मसलों को हमें यथासंभव निस्पृह होकर समझने की कोशिश करनी चाहिए और उस पहलू पर हमें अपनी ताकत लगा देनी चाहिए, जिससे उनका हल मिलता हो। मलाया में, जो प्राकृतिक साधनों का भण्डार है, मैंने महसूस किया है कि दुनिया भर से बुरी हालत है। ऐसा मैंने कहीं नहीं देखा। कैसी अजीव वात है ? मैं जानता हूं कि मलाया में दुनिया भर की प्राकृतिक सम्पत्ति है। इतने वड़े भण्डार को लेकर, जो प्रकृति ने हमें दिया है, और विज्ञान और उद्योगों के द्वारा उन साधनों से लाभ उठाने की अमोघ शक्ति पा कर भी, क्या इस दुनिया को हम सवके लिए स्वर्ग नहीं वना सकते ? लेकिन इतनी वर्तमान प्रचुरता और उससे भी अधिक भविष्य में मिलने की आशा होते हुए भी हम छोटी-छोटी वातों पर झगड़ते हैं। आदमी आदमी का शोषण करता है, राष्ट्र राष्ट्र का। भावी अन्तर्राष्ट्रीय संकट हमारी जिन्दगी में निराशा भर जाता है, लेकिन वह दिन आनेवाला है जव कि इस जटिल गोरखधंधे से वाहर होने का हम रास्ता निकालेंगे और सामान्य हितों और मानव-जाति की उन्नति के लिए पारस्परिक सहयोग देंगे।

१ जून, १९३७

: ८ :

जेलखाने की बातें

हाल ही के एक अंग्रेजी अखबार में एक लेखक ने लिखा है कि राजनीति के बोझ और जेल की जिन्दगी से मैं मर मिटा हूं। मैं नहीं जानता कि यह खबर उन्हें कैसे और कहां से मिली; लेकिन अपने शरीर और दिमाग को अच्छी तरह से 'टटोलकर मैं यह कह सकता हूं कि दोनों खूब मजबूत और ठीक हैं और जल्दी ही उनके बिगड़ने या गिरने का कोई खतरा नहीं है। अपने लिए खुशकिस्मती से मैं हमेशा शारीरिक स्वास्थ्य और योग्यता को प्रधानता देता रहा हूं और हालांकि मैंने अक्सर अपने शरीर के साथ बहुत अन्याय किया है, फिर भी मैंने उसे कभी बीमार नहीं पड़ने दिया। दिमागी तन्दुरुस्ती तो ज्यादा दिखाई नहीं देती; लेकिन उसकी भी मैंने काफी चिन्ता रखी है। और मैं खयाल करता हूं कि मेरी दिमागी तन्दुरुस्ती उन बहुत से आदमियों से अच्छी है, जिन पर सक्रिय कांग्रेस-राजनीति का बोझ नहीं पड़ा और न जिन्होंने जेल की जिन्दगी ही बिताई है। इसे चाहे मेरी खामखयाली ही क्यों न कहा जाय।

लेकिन मेरी तन्दुरुस्ती या बीमारी मामूली बात है, जिससे किसीको चिन्ता नहीं होनी चाहिए, हालांकि मेरे मित्रों और अखबारों ने इस बात को बहुत महत्त्व दे दिया है। राष्ट्रीय और सामाजिक दृष्टिकोण से महत्त्व की चीज तो जेलों की और उन बहुत-से आदमियों की शारीरिक और दिमागी हालत है जो हिन्दुस्तान में रहे हैं। यह बात सब कहते हैं कि मजबूत और बहादुर आदमी भी बहुत दिनों की जेल की जिन्दगी के भारी बोझ से मर मिटते हैं। मैंने अपने प्रियजनों को जेल में दुःख सहते देखा है और मेरे उन दोस्तों की, जिन्होंने दुःख उठाये हैं, एक बड़ी लम्बी-चौड़ी दुःखभरी सूची है। अभी हाल ही में मेरे एक अनमोल साथी, जिनसे मैं पच्चीस से कुछ ज्यादा बरस पहले केम्ब्रिज मे मिला था और जो हमारे

इस अभागे मुल्क में वहादुरों से भी वहादुर थे—जे० एम० सेन गुप्ता[1]—जेल में ही मरे।

यह स्वाभाविक है कि हम अपने साथियों और परिचितों के दुःख को उन हजारों आदमियों के दुःख की वनिस्वत ज्यादा महसूस करें जिन्हें हम जानते तक नहीं हैं। फिर भी उन्हीं के वारे में मैं ये चन्द लाइनें नहीं लिख रहा हूं। हम, जिन्होंने खुशो से जेल के लोहे के फाटकों के भीतर रहना पसन्द किया, जेल के वर्ताव पर न तो शोर ही मचाना चाहते हैं और न उसकी शिकायत ही करना चाहते हैं। अगर हमारे मुल्क के आदमी इस बात में दिलचस्पी रखते हैं और इस सवाल को उठाना चाहते हैं तो उठा सकते हैं। ऐसे सवाल अक्सर उठाये जाते हैं। लेकिन नियम तो ऐसा हो गया है कि वे सवाल वड़े आदमियों से ही सम्वन्ध रखते हैं और उन वड़े आदमियों की सामाजिक विशिष्टता की वुनियाद पर जेल में उनके साथ अच्छा वर्ताव किये जाने की मांग पेश की जाती है। उसी असंतोष को मिटाने के लिए कुछ थोड़े-से आदमियों को 'ए' और 'वी' दर्जे में रख दिया जाता है, ज्यादातर आदमियों को तो, शायद ९५ फीसदी से ऊपर, जेल की जिन्दगी की कड़ी-से-कड़ी सख्तियां उठानी पड़ती हैं।

इन जुदा-जुदा दर्जों में ऊंच-नीच के वर्ताव की आलोचना अक्सर की गई है और वह ठीक ही है। कुछ तो वह तन्दुरुस्ती की वुनियाद पर ठीक है; क्योंकि यह वहुत मुमकिन है कि कुछ आदमी जो दूसरी तरह की खुराक के आदी हैं, उन्हें अगर जेल की खुराक पर ही रहना पड़े तो उनमें कोई खास गड़वड़ पैदा हो जाय, जैसा कि वहुतों के साथ हुआ है। यह भी स्पष्ट है कि कुछ आदमी शरीर से वहुत ज्यादा मिहनत नहीं कर सकते। लेकिन इसके अलावा यह कैसे उचित समझा जाय कि वे हक जो दूसरे दर्जों के कैदियों को दिये जाते हैं, वे 'सी' दर्जे के कैदियों को न मिलें? ऊंचा

---

१ वंगाल-कांग्रेस के विख्यात नेता। जेल काटने की वजह से चालीस वर्ष की आयु में ही सन् १९३४ में मृत्यु हो गई।

दर्जा तो शायद लोगों को 'सामाजिक विशिष्टता' या ऊंची रहन-सहन की वजह से दिया जाता है। मुझे यकीन है, एक बात तो यह देखी जाती है कि वह कितनी मालगुजारी देता है। क्या ज्यादा मालगुजारी देने की ही वजह से यह अर्थ निकलता है कि उसकी मोह-ममता उसके घरवालों से ज्यादा है और इसलिए उसे ज्यादा मुलाकातें करने और चिट्ठी भेजने का हक होना चाहिए ? या कि पढ़ने-लिखने की सहूलियतें उन्हें ज्यादा मिलनी चाहिए ? ज्यादा मालगुजारी देनेवाले तो अक्सर दिमाग के बहुत ज्यादा तेज नहीं पाये जाते।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि उन आदमियों से, जिन्हें मुलाकातों की और पढ़ने-लिखने की सुविधाएं दी जाती हैं, वे छीन ली जायं। ये हक तो जैसे कि वे हैं, कुछ भी नहीं हैं। हमें यह जानना चाहिए कि बहुत-से दूसरे मुल्कों में बुरे-से-बुरे, नीच-से-नीच कैदी को भी हिन्दुस्तान के 'ए' दर्जे के कैदी के हकों से कहीं ज्यादा हक मिलते हैं। और फिर भी यहां 'ए' और 'बी' दर्जों के हक इतने कम आदमियों को दिये जाते हैं कि हिन्दुस्तान के जेलखानों की हालतों पर विचार करते वक्त उन्हें भुलाया जा सकता है। असल में 'ए' और 'बी' दर्जे दिखावे और जन-मत को बहलाने के लिए दिये जाते हैं। बहुत-से आदमी, जो असलियत नहीं जानते, भ्रम में पड़ जाते हैं।

कुछ 'ए' दर्जे के कैदियों और खास तौर से कुछ नजरबन्दों या शाही कैदियों को अक्सर एक नया तजुरबा करना पड़ता है, जो बेहद दुखदाई है। एक-एक वक्त में महीनों उन्हें अकेले बिना साथी के रखा जाता है और जैसा कि हर डाक्टर जानता है, इस तरह अकेला रहना औसत आदमी के लिए बुरा है। सिर्फ वही आदमी इसके बुरे असर से बच सकते हैं जिन्होंने अपने को अकेले रहने के योग्य बना लिया है और जो अपने भीतर-ही-भीतर रह सकते हैं। यह ठीक है कि कैदी को या नजरबन्द को चन्द मिनटों तक जेल के किसी अधिकारी के साथ बातचीत करने की आजादी दी जाती है; लेकिन यह ऐसी आजादी है, जिस पर खुशी के ढोल नहीं पीटे जा सकते। यह काल-

कोठरी की सजा सरकार साफ तौर से जान-बूझ कर देती है। मुझे याद है कि जब मैं दिसम्बर १९३१ में गिरफ्तार हुआ था, खान अब्दुल गफ्फारखां भी पेशावर या छरसद्दा में गिरफ्तार हुए थे। एक ही वक्त में चार गिरफ्तारियां हुई थीं : उत्तर-पश्चिम सरहद के खुदाई खिदमतगारों के नेता खान अब्दुल गफ्फारखां, उनके भाई डाक्टर खान साहब, डा० खानसाहब का छोटा लड़का और एक उनका साथी। उन चारों को एक स्पेशल ट्रेन से ले जाया गया और चार शहरों की जुदा-जुदा चार जेलों में उन्हें रखा गया। इसमें क्या मुश्किल होती, अगर सबको या बाप और बेटे और भाइयों को एक साथ रख दिया जाता? ऐसा तो आसानी से किया जा सकता था; लेकिन जान-बूझ कर ऐसा नहीं किया गया। डाक्टर खान-साहब के बारे में मैं जानता हूं कि वह अकेले ही नैनी-जेल में रखे गये। एक महीने से कुछ ज्यादा मैं भी नैनी जेल में रहा; लेकिन हमें एक-दूसरे से दूर रखा गया। आपस में मिलने की हमें इजाजत नहीं थी। मेरे लिए डाक्टर खान साहब से मिलना एक लालच की चीज थी; क्योंकि वह, जब मैं विलायत में पढ़ता था, तब के मेरे दोस्त थे और बरसों से मैं उनसे मिला भी नहीं था।

यह सवाल राजनैतिक कैदियों के साथ रियायती वर्ताव का नहीं है। मैं अच्छी तरह से जानता हूं कि राजनीतिज्ञों के साथ वह वर्ताव और बुरा ही होता जायगा, जैसा कि पिछले बारह सालों में हुआ है। जन-मत के जागृत होने से ही वह रोका जा सकता है; लेकिन जन-मत को भी आखिरी सहारा नहीं गिनना चाहिए, जबतक कि वह उतना मजबूत न हो कि उससे कामयाबी की पूरी उम्मीद हो।

इसलिए यह स्पष्ट है कि राजनैतिक कैदियों को बढ़ते हुए बुरे वर्ताव की ही उम्मीद रखनी चाहिए। १९२१-२२ की बनिस्बत १९३०-३१ में वह वर्ताव और भी बुरा हुआ। सन् १९३०-३१ की बनिस्बत १९३२ में और भी बुरा! आज जेल में एक मामूली राजनैतिक कैदी की हालत अराजनैतिक कैदी की बनिस्बत कहीं ज्यादा खराब है। धमका कर माफी

मंगवाने के लिए या कम-से-कम उसे जेल में पूरी तरह से परेशान कर देने के लिए अक्सर हर तरह की कोशिशें की जाती हैं।

सर सेम्युअल होर की तरफ से कामन्स सभा में कहा गया था कि "हिन्दुस्तान में ५०० से ज्यादा आदमियों के सन् १९३२ में सविनय-अवज्ञा आन्दोलन में कोड़े लगाये गए थे।" कोड़े मारने या न मारने के रिवाज से अक्सर यह आंका जाता है कि अमुक राज्य कितना सभ्य है। बहुत से सभ्य राज्यों ने इस रिवाज को एकदम बन्द कर दिया है और जहां पर यह रिवाज चालू है वहाँ भी सिर्फ उन्हीं जुर्मों के लिए कोड़े लगाये जाते हैं जिन्हें नीच-से-नीच या हैवानी समझा जाता है, जैसे छोटी उम्र की लड़कियों पर बलात्कार, वगैरा। शायद कुछ महीने पहले कुछ (अराजनैतिक) जुर्मों के लिए कोड़े की सजा कायम रखने के सवाल पर असेम्बली में बहस हुई थी। सरकारी वक्ताओं ने कहा था कि कुछ हैवानी जुर्मों के लिए कोड़े की सजा जरूरी है। शायद हरेक दिमागी और रूहानी आदमी की राय इसके खिलाफ है। उनका कहना है कि हैवानी जुर्मों के लिए हैवानी सजा देना सबसे बेवकूफी का तरीका है। लेकिन चाहे जो कुछ हो, हिन्दुस्तान में पूर्ण राजनैतिक और टैकनीकल जुर्मों के लिए या जेल की व्यवस्था के खिलाफ छोटे-मोटे जुर्मों के लिए कोड़े लगाना आम रिवाज है। और इसमें निश्चित ही कोई नैतिक कमीनापन नहीं माना जाता।

राजनैतिक कैदिनों के साथ तो और भी सख्ती का बर्ताव किया जाता है। हजारों औरतों को जेल में डाला गया; लेकिन उनमें से बहुत थोड़ी औरतों को 'ए' या 'बी' दर्जा दिया गया। जेल में स्त्रियों की—राजनैतिक या अराजनैतिक—हालत आदमियों की हालत की बनिस्बत कहीं गई-बीती है। आदमी अपने-अपने काम से जेल के भीतर इधर-उधर घूम तो लेते हैं। उनका मन बहल जाता है, हिलना-डुलना भी हो जाता है और इससे कुछ हद तक उनका मन ताजा हो जाता है। औरतों को हालांकि कुछ हलका काम दिया जाता है, पर उन्हें तंग जगह में पास-पास रख दिया जाता है। वे बेहद रूखी जिन्दगी बिताती हैं। औसत अपराधियों की बनिस्बत

अपराधिनी स्त्रियां भी साथिन के रूप में कहीं बुरी होती हैं। आदमियों में बहुत-से ऐसे होते हैं जो बिलकुल बेकसूर-से होते हैं। उनमें बहुत से सभ्य ग्रामीण खेत के मामले में झगड़कर अंत में लम्बी सजाएं पाते हैं। आदमियों की बनिस्बत औरतों में अपराध की भावना ज्यादा होती है। ज्यादातर राजनैतिक स्त्री कैदियों को, जिनमें बहुत-सी सुन्दर जवान लड़कियां भी होती हैं, इस दम घोंटनेवाले वायुमंडल को बर्दाश्त करना पड़ता है। मुझे दिखाई देता है कि हमारे जेल के भीतर या बाहर जितनी चीजें होती हैं, उनमें शायद ही कोई इतनी बुरी हो जितना कि औरतों के साथ होने वाला बर्ताव।

मैं नहीं चाहता कि किसी भी औरत के साथ—चाहे वह मध्यवर्ग की हो, या किसान या मजदूर-घर की—ऐसा बर्ताव किया जाय जैसा कि हमारी जेलों में किया जाता है। ज्यादातर राजनैतिक कैदिनें बड़े घर की या मध्य वर्ग की होती हैं। किसान राजनैतिक मामले में जेल चला भी जाता है; लेकिन किसान औरतें तो शायद ही कभी जाती हैं। सरकार के दृष्टिकोण से विचार करते हुए औरतों का सामाजिक दर्जा कहीं ज्यादा ऊंचा होता था।

पिछले साल यू० पी० की लेजिस्लेटिव कौंसिल में उस वक्त के गृह-सदस्य ने यह कह कर मेम्बरों को चकित कर दिया कि अगर जेलों में राजनीतिकों की हालतों में सुधार कर दिया गया तो डाकू भी राजनैतिक कैदी बन-बनकर जेल में आया करेंगे। मुझे यकीन है, उन्होंने ऐसी दलील औरतों की हालत सुधारने के बारे में भी दी थी। इसमें सन्देह नहीं कि ये दलीलें उनके ऊंचे श्रोताओं के लायक थीं और उनसे उनका मतलब भी पूरा हुआ। इसमें से जो बाहरी बातों को नहीं जानते, उनके लिए गृह-सदस्य के ज्ञान और समझ की गहराई का अन्दाज लगाना बड़ी दिलचस्पी की चीज होगी! चोर-डाकुओं की प्रकृति की समझ, अपराध-शास्त्र, मनोविज्ञान और मानव-प्रकृति का ज्ञान उन्हें कितना है, यह उनके कथन से जाहिर होता है। इन दलीलों से हम कुछ नतीजों पर पहुंचते हैं, जो शायद गृह-

सदस्य के दिमाग में नहीं आए। अगर एक डाकू अपने पेशे को छोड़कर जेल जाने के लिए तैयार है, बशर्ते कि जेल में ज्यादा सख्ती न हो, तो इससे यह नतीजा निकलता है कि अगर जेल के बाहर उसे थोड़ा-बहुत जिन्दगी का सहारा मिल जाय और उसकी मामूली जरूरतें पूरी होती रहें तो वह डाका मारने और अपराध करना छोड़ने के लिए कहीं ज्यादा तैयार होगा। इसका मतलब यह है कि डाका डालने के लिए उस पर भूख-प्यास और मुसीबत का दबाव पड़ता है। इस दबाव को दूर कर दीजिए, डाका डालना खत्म हो जायगा। इस तरह डाके और अपराध का इलाज सख्त सजा नहीं है, बल्कि उसके बुनियादी कारणों को दूर करना है।

राजनैतिक कैदियों में अलहदा-अलहदा दर्जा करने के बारे में अक्सर सरकार से कहा गया है; लेकिन उसने वैसा करने से इन्कार कर दिया है। मेरे खयाल से, मौजूदा हालतों में, सरकार ने ठीक किया है; क्योंकि राजनीतिकों को मालूम कैसे किया जाय? सविनय अवज्ञा करने वाले कैदियों को असानी से अलहदा किया जा सकता है; लेकिन राजनैतिक कानूनों और नियमों की धाराओं को छोड़ कर राजनैतिक विद्रोही को पकड़ने के और भी बहुत से तरीके हैं। देहातों में तो यह आम रिवाज है कि किसान-नेता या कार्यकर्त्ता जाब्ता फौजदारी की निरोधक धाराओं के मातहत या उससे भी बड़े जुर्मों के लिए पकड़े जाते हैं। वे आदमी उतने ही राजनैतिक कैदी हैं जितने दूसरे, और ऐसे आदमियों की तादाद बहुत थोड़ी है! यह पद्धति बड़े शहरों में प्रकाशन की वजह से ज्यादा नहीं पाई जाती।

ऊंची दीवारें और लोहे के दरवाजे जेल की छोटी-सी दुनिया को बाहर की विस्तृत दुनिया से अलग कर देते हैं। इस जेल की दुनिया की हरेक चीज जुदा है। लम्बी मियाद के कैदियों और आजीवन कारावास भुगतनेवालों के लिए उसमें कोई रस नहीं, तब्दीली नहीं; न उम्मीद, न खुशी[1] नीरसता से भरी उनकी जिन्दगी जैसे-तैसे कटती रहती है। वह तो चौपट रेगिस्तान है, जिसमें कोई सुन्दर स्थान नहीं है और न प्यास

वुझाने के लिए या जलती हुई धूप से वचने के लिए कोई हरी-भरी जगह। दिन वीतते-वीतते हफ्ते वीत जाते हैं और हफ्तों के वाद महीने, साल और जिन्दगी खत्म हो जाती है।

राज्य की तमाम ताकत कैदी के खिलाफ है। मामूली-सी भी रोक-थाम उसे नहीं मिलती। उसके दुःख की कराह दवा दी जाती है। उसकी पीड़ित पुकार जेल की ऊंची दीवारों के वाहर तक सुनाई नहीं पड़ सकती। उसूलन कुछ रोक-थामें हैं और वाहर से मुलाकाती और अफसर लोग मुआइना करने के लिए आते हैं; लेकिन शायद ही कभी कैदी को उनसे शिकायत करने की हिम्मत होती है। और जो हिम्मत कर के शिकायत करते भी हैं, उन्हें उसके लिए दुःख भी सहना पड़ता है। मुलाकाती तो आकर चले जाते हैं, जेल के मामूली अफसर रह जाते हैं। उन्हीं के साथ कैदी को अपने दिन विताने पड़ते हैं। इसमें ताज्जुव नहीं कि कैदी अपनी मुसीवतों को वढ़ाने के खतरे को उठाने के वनिस्वत अपने दुःखों को सह लेना ज्यादा पसन्द करता है।

वहुत-से राजनैतिक कैदियों के आने से जेल की अन्धेरगर्दी पर कुछ रोशनी पड़ी। ताजी हवा अन्दर आई और साथ में लम्वी मियाद के कैदियों के लिए कुछ आशा भी लाई। जन-मत में जागृति हुई और कुछ सुधार हुए। लेकिन सुधार थोड़े ही हुए और जरूरी तौर पर व्यवस्था ज्यों-की-त्यों रही। कभी-कभी जेलों में 'विद्रोह' सुने जाते हैं। इससे क्या वात जाहिर होती है? शायद इसमें दोष कैदियों का ही हो। जेल की ऊंची दीवारों से घिरे निहत्थे वेवस कैदी के लिए जेल-अधिकारियों की शस्त्रीय ताकत को चुनौती देना पागलपन की वात नहीं तो क्या है? उससे सिर्फ एक फायदा होता है: लोगों में यह भावना पैदा हो जाती है कि सिर्फ वेहद उत्तेजित होने पर ही कैदी ऐसी मूर्खता और मायूसी का काम कर सकते हैं और उत्तेजना का कोई कारण होगा।

जेल की तरफ से या डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की तरफ से जांचें होती हैं। कैदी को न्याय की क्या उम्मीद हो सकती है? एक तरफ तो पूरी तरह से

तैयार किया हुआ मामला होता है, जिसके पीछे जेल के अधिकारी हैं और बहुत-से कैदी जिन्हें उनके कहने पर चलना पड़ता है। दूसरी तरफ डरी, कांपती, ठुकराई मानवता, जिसके हथकड़ी-बेड़ी पड़ी है। किसी की हमदर्दी उसके साथ नहीं है, कोई उसका यकीन नहीं करता। यू० पी० सरकार के जुडीशल सेक्रेटरी ने पिछले नवम्बर में प्रान्तीय कौंसिल में कहा था कि उन आदमियों पर, जो जेल में पड़े हैं, मामले में एक पार्टी होने के कारण, कभी यकीन न किया जाय। और चूंकि वेचारा कैदी पिटने या उसके साथ बुरा वर्ताव किये जाने के कारण एक पार्टी होता है, इससे उसका यकीन नहीं किया जाता। यह बड़े मजे की वात होगी कि यू० पी० सरकार से पूछा जाय कि ऐसी हालतों में अदृश्य और दैवी ताकत की गवाही से कम और किसकी गवाही वह वेचारा कैदी पेश कर सकता है?

पिछले साल मुझे एक निजी तजुरवा हुआ, जिसकी कुछ खास अहमियत है। जवकि मेरी मां और पत्नी जेल में मेरे बहनोई के साथ मुलाकात कर रही थीं, इलाहावाद डिस्ट्रिक्ट जेल के जेलर ने उनकी वेइज्जती की और जोर से धक्का देकर निकाल दिया। जव मैंने यह सुना तो मुझे गुस्सा आया; लेकिन फिर भी इस मामूली घटना को मैंने कोई अहमियत नहीं दी, क्योंकि उससे सिर्फ यही वात तो जाहिर होती थी कि एक ऐसे अफसर ने नामुनासिव हरकत की, जो शिक्षित नहीं है और जो शिष्टाचार नहीं जानता। मैं उम्मीद करता था कि कोई ऊँचा अफसर इस घटना पर अफसोस जाहिर करेगा; लेकिन वैसा होना तो दूर रहा, उलटे विना उस वारे में कुछ कहे मेरी मां, पत्नी और वहनोई को सजा दी गई। अप्रत्यक्ष रूप से मुझे भी सजा मिली, मुद्दत तक मुझे अपनी पत्नी से नहीं मिलने दिया गया। जव मैंने इंसपेक्टर-जनरल से इसकी जांच की तो एक छोटा-सा जवाव आया, जिसमें मेरी मां के सम्वन्ध में अशिष्टतापूर्ण वात कही गई थी। सिर्फ इस वक्त ही सरकार मुझसे और मेरी मां और पत्नी के कथनों से सच्ची वात जान सकी।

यह साफ था कि उन्होंने बड़ी भारी गलती की थी। मेरे बार-बार पूछने पर भी उन्होंने हमारे कथनों में कोई गलती नहीं बताई। मुझे समझ लेना चाहिए कि उन बातों को उन्होंने मंजूर किया जैसा कि उन्हें करना चाहिए था। अगर ऐसा था, पहले उन्होंने बड़ी बेवकूफी का काम किया, तो उसके लिए कम-से-कम उन्हें अफसोस तो जाहिर करना ही चाहिए था।

अगर ऐसा बर्ताव मेरी मां और पत्नी के साथ किया जा सकता है और साथ ही सरकार का अजीब बर्ताव और हठ भी चल सकता है तो यह अच्छी तरह से समझा जा सकता है कि औसत मामूली कैदियों और उनके आदमियों को कैसा बर्ताव सहना पड़ता होगा। हमारी सरकार की तमाम पद्धति, जैसी कि वह बिना आदमियों में जड़ें पौढ़ाए, ऊपर से लगा दी गई है, सिर्फ तभी तक लटकी रह सकती है, जबतक कि एक खूंटी दूसरी को सहारा देती है। यही उसकी ताकत है और खुशकिस्मती से यही उसकी कमजोरी भी है; क्योंकि जब उस पद्धति का एक बार पतन होता है तो वह पूरी तरह से होता है।

पिछले साल मैंने जेल से गृह-सदस्य को लिखा और मैंने उनसे कहा कि यू० पी० की जेलों की हालतों के बारह बरस के तजुरबों से बहुत दुःख के साथ मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि इस प्रान्त की जेलों में व्यभिचार, हिंसा और झूठ एकदम भर गया है। बहुत साल पहले मैंने अपनी जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट को (बाद में वह इन्सपेक्टर-जनरल हो गया था) कुछ बुराइयां बताई थीं। उसने उन्हें मंजूर किया और कहा कि पहले-पहल जब वह जेल में नौकर हुआ था, तब उसमें सुधार करने के लिए उत्साह था; लेकिन बाद में उसने पाया कि कुछ हो ही नहीं सकता, इसलिए पुराना ढर्रा उसने चलने दिया।

अकेले आदमियों के लिए असल में कुछ नहीं हो सकता। और बहुत से ऐसे लोग भी कोई आदर्श उदाहरण नहीं हैं, जिन पर जिम्मेदारी है। भारतीय बंदीगृह आखिर बड़े हिन्दुस्तान का ही तो एक छोटा रूप है।

महत्त्व की बात तो यह है कि जेल का ध्येय क्या है। आदमियों की भलाई, या एक मशीन का चलाना, या स्थिर स्वार्थों को कायम रखना? सजाएं क्यों दी जाती हैं? क्या समाज या सरकार की तरफ से बदला लेने के लिए या अपराधी को सुधारने की नीयत से?

क्या जज या जेल के अफसर कभी इस बात को सोचते हैं कि अभागा अपराधी जो उनके सामने है, उसे ऐसा बना देना चाहिए कि जेल से निकलने पर वह समाज के काबिल हो? ऐसे सवाल उठाना महज हिमाकत की बात है; क्योंकि कितने ऐसे आदमी हैं जो असल में इस बारे में चिन्ता करते हैं?

हम उम्मीद करें कि हमारे जज बड़े उदार आदमी हैं। निश्चय ही वे बड़ी लम्बी-लम्बी सजाएं तो दे ही देते हैं। पेशावर से १५ दिसम्बर १९३२ की एसोशियेटेड प्रेस की खबर है:

"कोल्डस्ट्रीम के कत्ल के बाद ही सीमाप्रान्त के इन्सपेक्टर-जनरल तथा दूसरे बड़े अफसरों की धमकी-भरी चिट्ठियां लिखने के लिए जमनादास नाम के मुलजिम को पेशावर के सिटी मजिस्ट्रेट ने ताजीरात हिन्द की दफा ५०० व ५०७ के अनुसार ८ साल की सजा दी।" जमनादास देखने में लड़का लगता था।

एक और मार्के की मिसाल है। लाहौर से २२ अप्रैल १९३३ की एसोशियेटेट प्रेस की खबर है:

"सात इंच लम्बे फने का चाकू पास रखने की वजह से सआदत नाम के एक मुसलमान को सिटी मजिस्ट्रेट ने आर्म्स एक्ट की १९ वीं दफा के मुताबिक १८ महीने की सख्त कैद की सजा दी।"

तीसरी मिसाल मदरास की ६ जुलाई १९३३ की है। रामस्वामी नाम के एक लड़के ने चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट की अदालत में, क्योंकि वह एक षड्‌यंत्र का मुकदमा सुन रहा था, एक पटाखा चला दिया। उससे कोई नुकसान नहीं हो सकता था। फिर भी रामस्वामी को बच्चों की जेल में रहने के लिए चार साल की सजा हुई।

ये तीन मिसालें कोई गैरमामूली मिसालें नहीं हैं। और बहुत-सी मिसालें उनमें जोड़ी जा सकती हैं। उनसे भी बुरी और मिसालें हैं। मैं समझता हूं, हिन्दुस्तान में बहुत दिनों से आदमी दुःख उठा रहे हैं, इसलिए ऐसी अजीब सजाएं जब दी जाती हैं तो उन्हें अचरज नहीं होता। अपनी तो मैं कहता हूं, चाहे जितना अभ्यास करूं तब भी उन सजाओं के पढ़ते ही मेरा पारा बिना चढ़े नहीं रह सकता। नाजी जर्मनी को छोड़कर कहीं भी इस तरह की सजाएं वावेला मचा देंगीं।

और न्याय हिन्दुस्तान में अन्धा होकर नहीं किया जाता। खुदगरजी की आंख सदा खुली रहती है। किसानों के हरेक विद्रोह में बहुत से किसानों को आजीवन कारावास मिलता है। ये छोटे-छोटे विद्रोह अक्सर तब खड़े होते हैं जब जमींदारों के गुमाश्ते आ-आकर उन दुखी किसानों में आर चुभोते हैं, जिसे वे किसान बर्दाश्त नहीं कर सकते। सिर्फ उन आदमियों की शनाख्त करके, जो मौके पर मौजूद थे, उम्रभर के लिए या लम्बी सजा भुगतने के लिए जेल में डाल देने का मौका मिल जाता है। उनके भड़कने का कारण तो शायद ही कभी देखा जाता है। शनाख्त भी ठीक तरह से नहीं होती। पुलिस जिस आदमी से नाराज होती है उसी को आसानी से फांस लिया जाता है। अगर इस मामले को राजनैतिक रूप दिया जा सके या लगानबन्दी-आन्दोलन से उसे सम्बन्धित किया जा सके, तब तो जुर्म लगाना और लम्बी सजाएं देना और भी आसान हो जाता है।

हाल ही के एक मामले में एक किसान ने टैक्स-कलेक्टर के चांटा मार दिया, जिसपर उसे एक साल की सजा हुई। दूसरी मिसाल इससे कुछ भिन्न है। वह पिछली जुलाई में मेरठ में हुई। एक नायब तहसीलदार एक गांव के आदमियों से आबपाशी वसूल करने गया। उसके चपरासी एक किसान को खींचकर उसके पास लाये और शिकायत की कि उसकी स्त्री और लड़कों ने उन्हें मारा है। एक अजीब कहानी थी। खैर, नायब ने हुक्म दिया कि अपनी स्त्री के कसूर के लिए उस किसान को सजा दी जाय। और तब तीनों—नायब खुद और दो चपरासी—आदमियों ने छड़ी से उस

गरीव को खूब मारा। इतना मारा कि उस मार से वाद में वह मर गया। नायव और चपरासियों पर मुकदमा चला और मामूली चोट पहुंचाने के लिए उन्हें कसूरवार ठहराया गया और बाद में इस वात पर उन्हें छोड़ दिया गया कि छः महीने तक वे अपना आचरण ठीक रखें। आचरण ठीक रखने से मतलब, मैं समझता हूं, यह था कि आगे के छः महीने में वे किसी आदमी को इतना न मारें कि वह मर जाय। इन मामलों का एक-दूसरे से मुकाविला करना वड़ा शिक्षाप्रद है।

इसलिए जेलों में सुधार करने के लिए अनिवार्यतः दंड-विधि को सुधारना होगा। उससे भी ज्यादा उन जजों की मनोवृत्तियों को वदलना होगा जो कि अब भी सौ वरस पीछे के जमाने में पड़े हुए हैं और सजा और सुधार के नये विचारों से एकदम नावाकिफ हैं। इसके लिए तमाम शासन-प्रणाली को वदलना होगा।

लेकिन हम जेलों के बारे में ही विचार करें। सुधार इस विचार की बुनियाद पर होना चाहिए कि कैदी को सजा नहीं दी जा रही है, बल्कि उसे सुधारा जा रहा है और एक अच्छा नागरिक बनाया जा रहा है। (मैं राजनीतिकों के बारे में विचार नहीं कर रहा हूं। वहुत-से उनमें इतने अपराधी होते हैं कि उनका सुधार नहीं हो सकता) अगर इस ध्येय को एक बार मान लिया गया तो जेलों की गन्दगी एकदम दूर हो जायगी। आजकल तो वहुत ही कम जेल के अफसर ऐसे विचारों के हैं। मुझे याद है, यू० पी० के जेल-मैन्युअल के एक पैराग्राफ में कहा गया है कि यह ज़रूरी नहीं है कि कैदी का काम उत्पादक या लाभदायक हो। वह तो सजा के लिए है। यह तो करीव-करीव इस वात का एक आदर्श कथन है कि जेल ऐसा नहीं होना चाहिए। वह पैराग्राफ तो कव का खत्म हुआ; लेकिन उसकी भावना तो अव भी वाकी है—वह भावना जो कि वड़ी कठोर सजा देने वाली है और मानव-जाति में जिसका एकदम अभाव है। यू० पी० के जेल-मैन्युअल में जेल के जुर्मों की दी हुई सूची वड़ी मजेदार है। उनमें वे सव वातें आ जाती हैं जिन्हें आदमी की बुद्धि

जिन्दगी को असह्य-से-असह्य बनाने के लिए इकट्ठा कर सकती है। बात करना, गाना, चिल्लाकर हँसना, नियमित घंटों के अलावा टट्टी जाना, जो खाना दिया जाय उसे न खाना, इत्यादि सब जुर्म हैं। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जेल के अधिकारियों की सारी ताकत कैदियों को दबाये रखने में और ऐसे बहुत-से कामों के रोकने में चली जाती है, जिन्हें करने की कैदियों को मुमानियत है।

कुछ आदमियों का खयाल है कि अगर सजा सख्त न दी जायगी तो गुनाह बढ़ेंगे। ऐसे आदमी अज्ञानी हैं। असल में सचाई तो बिलकुल इससे उलटी है। सौ बरस पहले इंग्लैंड में मामूली चोर भी फांसी पर लटका दिये जाते थे। जब चोरों के लिए मौत की सजा हटाने का इरादा किया गया तो बड़ा शोर मचा। लार्ड-सभा में अमीरों ने कहा कि इससे तो यह नतीजा होगा कि चोर-डाकू हर चीज चुरायंगे और एक आतंक पैदा कर देंगे। असल में इस सुधार का नतीजा उनके विचार से उलटा निकला और गुनाह बहुत कम होने लगे। इंग्लैंड और दूसरे मुल्कों में दण्ड-विधि और जेलों में सुधार हो जाने के कारण गुनाह धीरे-धीरे बहुत कम हो गये हैं। इंग्लैंड में बहुत-से पुराने जेलखानों की अब जरूरत नहीं है और वे दूसरे कामों के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। यह सब जानते हैं कि हिन्दुस्तान के जेलों में कैदियों की तादाद बढ़ती ही जा रही है (राजनैतिक कैदियों के अलावा), और प्रबन्धक और न्याय-सम्बन्धी संस्थाएं लम्बी और कठोर सजाएं देकर इस बारे में और प्रोत्साहन दे रही हैं। बच्चों को सजा देना तो सब जगह बुरा समझा जाता है और उसे दरगुजर किया जाता है, लेकिन यहां हिन्दुस्तान में जेल युवकों और बच्चों से भरे हुए हैं और अक्सर उन्हें कोड़े मारने की सजा दी जाती है।

लोग डरते हैं कि अगर जेलों की हालतें सुधार दी गई तो आदमी-पर-आदमी उनमें आ भरा करेंगे। ऐसा सोचना गलती है। इससे पता चलता है कि मानवीय प्रकृति का ज्ञान उन्हें नहीं है। जेलखाने चाहे जितने अच्छे हों, कोई भी उनमें जाना नहीं चाहता। आजादी, कौटुम्बिक

जिन्दगी, मित्र और घरेलू वायुमंडल से वंचित होना एक वड़े दुःख की वात है। सव जानते हैं कि हिन्दुस्तान का किसान अपने वाप-दादा की जमीन से चिपटकर भूखों मर जाना चाहेगा, उसे छोड़कर दूसरी जगह अपनी हालत सुधारने वह नहीं जायगा। जेल की हालतों के सुधारने का मतलव यह नहीं है कि जेल की जिन्दगी को सुगम वना दिया जाय। उसका मतलव तो यह है कि उसमें इंसानियत और समझदारी पैदा कर दी जाय। कड़ा काम हो; लेकिन तेल की नली, पानी की नली या चक्की का वहशी और वेकार काम न हो। जेल वड़े पैमाने के कारखाने हों, जहां कैदी काम करें, या घरेलू-धंधे करके चीजें पैदा करें। काम जेल के और कैदी के भावी जीवन के दृष्टिकोण से उपयोगी होना चाहिए। और वाजारू दर से कैदियों के रहन-सहन के खर्च को निकालकर जो वचे वह कैदियों को मजदूरी में मिलना चाहिए। दिन में आठ घंटे कड़ी मेहनत करने के वाद कैदियों को प्रोत्साहन देना चाहिए कि वे आपस में मिलें-जुलें, खेल खेलें, पढ़ें, कुछ सुनावें, व्याख्यान दें। इससे भी ज्यादा उन्हें प्रोत्साहन मिलना चाहिए कि वे हँसें और जेल के अधिकारियों तथा अन्य कैदियों से मानवीय संवंध पैदा करें। हरेक कैदी की शिक्षा की तरफ ध्यान दिया जाना चाहिए, सिर्फ पढ़ना, लिखना और हिसाव (अंग्रेजी के तीन 'आर'—रीडिंग, रायटिंग, रिथमेटिक) की ही शिक्षा नहीं; वल्कि जो कुछ मुमकिन हो, वह सव शिक्षा उन्हें दी जानी चाहिए। कैदी की वुद्धि का विकास किया जाय और जेल की लाइब्रेरी में, जिसमें आने-जाने की पूरी आजादी हो, वहुत-सी अच्छी-अच्छी कितावें हों। पढ़ाई और लिखाई को हर तरह से प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इसका मतलव यह है कि हरेक कैदी को लिखने का समान और कितावें मिलनी चाहिए। कैदी के लिए इससे ज्यादा और कोई भी नुकसान की चीज नहीं है कि हर रोज वारह या चौदह घंटे एकदम कोठरी या वैरक में वन्द विताने और करने को कुछ न हो। इतवार या छुट्टी के दिन तो उसे और भी ज्यादा वक्त तक वंद रहना पड़ता है।

कुछ चुने हुए अखबार कैदी के लिए जरूरी हैं, जिससे बाहर की दुनिया के हालात भी वह जान सके । मुलाकातें जल्दी-जल्दी होनी चाहिए और चिट्ठियां भी जल्दी-जल्दी भेजी जा सकने की व्यवस्था होनी चाहिए। और जहां तक हो सके. उन्हें बेजाब्ता कर देना चाहिए । व्यक्तिगत रूप से, मेरी राय तो यह है कि हफ्तेवार मुलाकातों और चिट्ठयों की इजाजत मिल जानी चाहिए। यथासंभव कोशिश होनी चाहिए कि कैदी महसूस करे कि वह आदमी है और वहशियाना नीच सजाएं भी बन्द हो जानी चाहिए।

हिन्दुस्तान में जेलों की मौजूदा हालतों के मुकाबिले में यह सब अजीबो-गरीब मालूम पड़ता है। और फिर मैंने तो वही बातें बताई हैं जो बहुत-से सभ्य मुल्कों की जेलों में पहले ही से की जाती हैं। वस्तुतः इससे भी ज्यादा ये बातें वहां होती हैं। हमारा मौजूदा शासन-प्रबंध और असलियत में हमारी सरकार खुद इन बातों को नहीं समझ सकती, न पसन्द ही कर सकती है, क्योंकि उन्होंने तो रोज-मर्रा के ढर्रे में अपने दिमाग को बुरी तरह बांध रखा है; लेकिन जन-मत को ये मांगें जरूर पेश करनी चाहिए, जिससे वक्त आने पर बिना कठिनाई के उन्हें चालू किया जा सके।

यह नहीं सोचना चाहिए कि इन तब्दीलियों से अतिरिक्त खर्च बढ़ जायगा। अगर जेलों को ठीक-ठीक मौजूदा औद्योगिक लाइनों पर चलाया जाय तो वे स्वावलम्बी ही नहीं होंगीं; बल्कि ऊपर बताई अतिरिक्त खुराकी के अतिरिक्त खर्च को निकालकर उनसे आमदनी भी हो सकती है। इन तब्दीलियों को करने में कोई भी मुश्किल नहीं है। एक मुश्किल हो सकती है, वह यह कि जेल के अधिकारी होशियार हों और उनमें इंसानियत हो और वे नये दृष्टिकोण को पूरी तरह से समझ सकें, उसे पसन्द कर सकें और उसके लिए कोशिश करने की इच्छा उनमें हो। यह बेहद जरूरी है।

मेरी इच्छा है कि हमारे कुछ आदमी विदेशी जेलखानों की हालत का अध्ययन करें और जहां मुमकिन हो वहां खुद जाकर उनका निरीक्षण

करें। वे देखेंगे कि हमारे जेलखाने उनसे कितने पीछे हैं। हर जगह एक नई इंसानियत पाई जाती है, साथ ही लोग यह भी जानने लगे हैं कि सामाजिक हालतें ही ज्यादातर आदमी को कसूरवार वनाती हैं। इसलिए कैदी को सजा देने के वजाय एक वीमारी की तरह उसका इलाज होना चाहिए। सच्चे अपराधियों का मन वच्चों का-सा होता है और यह मूर्खता की वात है कि वड़ा समझकर उसके साथ वर्ताव किया जाय।

लेटविया जैसे छोटे मुल्क की जेलों में हम सुनते हैं कि "पौधों, फूलों, कितावों और कैदियों की निजी चीजों को, जैसे फोटोग्राफ, दस्तकारी, वेतार-के-तार, लगाकर कोशिश की जाती है कि कैदियों के कमरों और कोठरियों में घरेलू वातावरण पैदा हो।" वहां कैदियों को अपने काम के लिए मजदूरी मिलती है। उनकी आधी आमदनी जमा होती रहती है और आधी वे अतिरिक्त भोजन, तम्वाकू, अखवार वगैरा में खर्च कर देते हैं।

सोवियटों का देश, रूस तो जेल की हालत सुधारने में सवसे आगे वढ़ गया है। हाल ही में एक होशियार निरीक्षक ने सोवियट-जेलों की जांच की थी। उनकी रिपोर्ट वड़ी दिलचस्प है। यह निरीक्षक डी० एन० प्रिट, के० सी०, एक मशहूर अंग्रेज वकील थे। वह दण्ड-सुधार के लिए हावर्ड-लीग के अध्यक्ष भी हैं। यह लीग एक संगठन है जो साठ वरस से ज्यादा से इंग्लैंड में जेल-सुधार में सवसे आगे है। प्रिट वताते हैं कि वहां सजा में से सजा का अंश तो एकदम हटा दिया गया है। अव सजा विलकुल सुधार के लिए दी जाती है। कैदियों के साथ वर्ताव इंसानियत का होता है और वेहद अच्छा होता है।

वहां दो तरह के जेलखाने हैं: (१) अधखुले खीमे या पूरे खुले कम्यून या कालोनी। असल में वे जेल विलकुल नहीं हैं। वहां कैदी गांव की जिन्दगी वसर करते हैं। कुछ पावन्दियां उन पर होती हैं। (२) वन्द जेल। ये जेल सवसे सख्त तरह के होते हैं; लेकिन यहां भी कैदियों को वहुत ज्यादा आजादी दी जाती है। देखकर ताज्जुव होता है। वार्डर और कैदियों में वरावरी की भावना होती है और काम के घंटों के अलावा

दूसरे कैदियों से और गार्डों से मिलने-जुलने में कोई रुकावट नहीं होती। मामूली कारखानों के आठ घंटे का काम वहां होता है जिसके लिए मामूली मजदूरी मिलती है। बाकी घंटों के लिए खेल है, पढ़ाई है, जमनास्टिक, लेक्चर, बेतार-के-तार, किताबें हैं। शौक के लिए कैदी ड्रामा भी खेलते हैं। कैदी इधर-उधर की बातें भी करते हैं और वार्डरों और जेल के दूसरे अफसरों पर जो "यह भूल जाते हैं कि जेल सजा के लिए नहीं हैं, बल्कि सुधार के लिए हैं," बिना हिचकिचाये टीका-टिप्पणी करते हैं।

रूस की सब संस्थाओं में जिस स्वराज्य के सिद्धांत को प्रोत्साहन दिया जाता है, सबको कुछ हदतक जेलों में ही व्यवहार में लाया जाता है। कैदी खुद अपने ऊपर सजाएं लगाते हैं। काम के वक्त छोड़कर, सिगरेट पीने की उन्हें आजादी है। मुलाकातें जल्दी-जल्दी होती हैं और बेरोक और बिना निगरानी के चिट्ठयां आती-जाती हैं। सबसे मार्के का नियम तो यह है कि वहां करीब-करीब हमेशा कैदी को पन्द्रह दिन की गर्मियों की छुट्टी मिलती है, जिससे वह घर जाकर अपनी पैदावार वगैरा की देख-भाल कर आवे। जेल में वह औरत, जिसके पास बच्चा है, या तो उस बच्चे को जेल की क्रेश[1] में छोड़ सकती है जहां अच्छी तरह से बच्चों की देख-भाल होती है या वह उसे घर पर छोड़ सकती है। घर पर छोड़ने की हालत में दूध पिलाने के लिए वह दिन में कई बार घर जा सकती है।

कोठरियों में फूल, तस्वीरें, फोटोग्राफ रहते हैं। दिमाग का इलाज करने वाले डाक्टर नियम से कैदियों की जांच करके देखते हैं कि उनकी दिमागी हालत ठीक है या नहीं। दिमाग के इलाज के लिए अस्पताल हैं, जहां जरूरत पड़ने पर उन्हें भेज दिया जाता है। कालकोठरी की सजा तो बहुत कम दी जाती है।

इन बातों पर यकीन नहीं होता; लेकिन रूस में ऐसा है और इस इंसानियत के बर्ताव का इतना अच्छा नतीजा निकला है कि ताज्जुब होता

---

१ बच्चों के लिए आम नर्सरी—सम्पादक

है। रूस वालों को उम्मीद है कि कसूर वहुत-कुछ कम हो जायंगे और वहुत-सी जेल वन्द कर दी जायंगीं। इसलिए अच्छे वर्ताव से जेल भरती नहीं हैं, खाली होती हैं, वशर्ते कि आर्थिक वुनियाद ठीक हो और करने के लिए काम हो।

थोड़ा वक्त गुजरा, कामन्स सभा में जानवरों की रक्षा करने पर विचार करने के लिए एक सभा हुई थी। वड़ा प्रशंसनीय विचार था; लेकिन यह याद रखना चाहिए कि हिन्दुस्तान में बेचारा दो पैर का जानवर भी रक्षा और चिन्ता के लायक है, खासतौर से वे जो जेल में वहुत दिनों तक शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाते हैं और जेल से निकलने पर मामूली काम भी मुश्किल से कर पाते हैं।

नार्वे की हरेक जेल में दीवारों पर एक वात खुदी हुई है। वह नार्वे के एक मशहूर कैदी लार्स ऑलसन स्क्रैफ्सण्ड के, जिसने नशे की हालत में चोरी करने पर वड़ी लम्वी सजा भुगती, व्याख्यान का एक अवतरण है। वह वाद में हिन्दुस्तान आया और उसने स्कैंडीनेवियन संटल मिशन[1] की नींव डाली। वह एक वहुभाषी व्यक्ति था, प्राचीन और आधुनिक सत्रह भाषाएं जानता था। उनमें एक संटल भाषा भी थी। उसके व्याख्यान का अवतरण, जो जेल की कोठरियों पर खुदा हुआ है, इस तरह है:

"उस आदमी के अलावा, जिसने कभी खुद यह महसूस नहीं किया कि कैदी होना कैसा होता है, कोई भी अंदाज नहीं कर सकता कि जेल में कैदी पर क्या वीतती है। उसकी कुछ कल्पना की जा सकती है; लेकिन उससे उस आदमी की भावनाएं जाहिर नहीं हो सकतीं जो दुखी और परित्यक्त अपनी कोठरी में पड़ा रहता है।"

यह अच्छी वात है कि वे आदमी, जिन्हें उनके भाग्य ने जेल की कोठरी से दूर ही रखा है, इन दुखी और परित्यक्त लोगों की ओर ध्यान देने लगे हैं।

१९३४

---

१ संटल आर्यों से पहले की एक जाति, जो वंगाल और उसके आस-पास के जिलों में रहती है।

: ९ :

साहित्य का भविष्य

कुछ दिन से फिर हिन्दी और उर्दू की वहस उठी है और लोगों के दिलों में यह शक पैदा होता है कि हिन्दीवाले उर्दू को दवा रहे हैं और उर्दू-वाले हिन्दी को। वगैर इस प्रश्न पर गौर किये जोशीले लेख लिखे जाते हैं और यह समझा जाता है कि जितना हम दूसरे पर हमला करते हैं उतना ही हम अपनी प्रिय भाषा को लाभ पहुंचाते हैं; लेकिन अगर जरा भी विचार किया जाय तो यह विलकुल फिजूल मालूम होता है। साहित्य ऐसे नहीं वढ़ा करते।

दूसरी वात यह भी देखने में आती है कि अक्सर साहित्य का अर्थ हम कुछ दूसरा ही लगाते हैं। हम भाषा की छोटी वातों में वहुत फंसे रहते हैं और वुनियादी वातों को भूल जाते हैं। साहित्य किसके लिए होता है? क्या वह थोड़े-से ऊपर के पढ़े-लिखे आदमियों के लिए होता है या आम जनता के लिए? जवतक हम इसका जवाव न दें, उस समय तक हमें साहित्य के भविष्य का रास्ता ठीक तौर से नहीं दीखता। और अगर हम इस वात का निश्चय कर लें, तो शायद हमारे हिन्दू-उर्दू आदि के और झगड़े भी हल हो जायं।

पहली वात जो हमको याद रखनी है वह यह है कि हमारा आजकल का साहित्य वहुत पिछड़ा हुआ है। यूरोप की किसी भी भाषा से मुकाविला किया जाय तो हम काफी गिरे हुए हैं। जो नई कितावें हमारे यहां निकल रही हैं वे अव्वल दर्जे की नहीं होतीं और कोई आदमी आजकल की दुनिया को समझना चाहे तो उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह विदेशी भाषाओं की कितावें पढ़े। नई विचार-धाराएं अभी तक हमारे साहित्य में कम पहुंची हैं। इतिहास, विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, राजनीति इत्यादि पर हमारी भाषाओं में माकूल पुस्तकें वहुत कम हैं। हमें इधर पूरे तौर से ध्यान देना है, नहीं तो हमारी भाषाएं वढ़ नहीं सकतीं।

जो लोग इन बातों के सीखने के लिए उत्सुक हैं उनको मजबूरन और जगह जाना पड़ेगा।

वहुत सारे प्रश्न उठते हैं। इन सब पर मैं इस समय नहीं लिख सकता; लेकिन चन्द बातों की तरफ ध्यान दिलाना चाहता हूं:

१. मेरा पूरा विश्वास है कि हिन्दी और उर्दू के मुकाविले से दोनों को हानि पहुंचती है। वे एक-दूसरे के सहयोग से ही बढ़ सकती हैं और एक के बढ़ने से दूसरे को भी फायदा पहुंचेगा। इसलिए उनका सम्वन्ध मुकाविले का नहीं होना चाहिए चाहे वह कभी अलग-अलग रास्ते पर क्यों न चलें। दूसर की तरक्की से खुशी होनी चाहिए, क्योंकि उसका नतीजा अपनी तरक्की होगा। यूरोप में जब नये साहित्य (अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इटालियन) बढ़े, तब सब साथ बढ़े, एक-दूसरे को दवा कर और मुकाविला कर के नहीं।

२. इसके माने यह नहीं कि हर भाषा के प्रेमी अपनी भाषा की अलग उन्नति की कोशिश न करें। वे अवश्य करें; लेकिन वह दूसरे की विरोधी कोशिश न हो और मूल सिद्धान्त सामने रखें।

३. यह खाली उर्दू-हिन्दी के लिए नहीं, वल्कि हमारी सव वड़ी भाषाओं—वंगाली, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू, कन्नड़ मलयालम, के लिए भी है। यह बात साफ कर देनी चाहिए कि हम इन सव भाषाओं की तरक्की चाहते हैं; मुकाविला नहीं। हर प्रान्त में वहां की भाषा ही प्रथम है। हिन्दी या हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा अवश्य है और होनी चाहिए; लेकिन वह प्रांतीय भाषा के पीछे ही आ सकती है। अगर यह वात निश्चय हो जावे और साफ-साफ कह दी जावे तो वहुत-सी गलतफहमियां दूर हो जावें और भाषाओं का सम्वन्ध वढ़े।

४. हिन्दी और उर्दू का सम्वन्ध वहुत करीव का है, और फिर भी कुछ दूर होता जा रहा है। इससे दोनों को हानि होती है। एक शरीर पर दो सिर हैं और वे आपस में लड़ा करते हैं। हमें दो वातें समझनी हैं और हालांकि वे दो बातें ऊपरी तौर से कुछ विरोधी मालूम होती हैं, फिर भी उनमें कोई असली विरोध नहीं है। एक तो यह कि हम ऐसी भाषा हिन्दी

और उर्दू में लिखें और बोलें, जो कि बीच की हो और जिसमें संस्कृत या अरबी और फारसी के कठिन शब्द कम हों। इसी को आमतौर से हिन्दुस्तानी कहते हैं। कहा जाता है, और यह बात सही है कि ऐसी बीच की भाषा लिखने से दोनों तरफ की खराबियां आ जाती हैं, एक दोगली भाषा पैदा हो जाती है, जो किसी को पसन्द नहीं होती और जिसमें न सौंदर्य होता है, न शक्ति। यह बात सही होते हुए भी बहुत बुनियाद नहीं रखती और मेरा विचार है कि हिन्दी और उर्दू के मेल से हम एक बहुत खूबसूरत और बलवान भाषा पैदा करेंगे, जिसमें जवानी की ताकत हो और जो दुनिया की भाषाओं में एक माकूल भाषा हो।

यह बात होते हुए भी हमें याद रखना है कि भाषाएं जबरदस्ती नहीं बनतीं या बढ़तीं। साहित्य फूल की तरह खिलता है और उस पर दबाव डालने से मुरझा जाता है। इसलिए अगर हिन्दी-उर्दू भी अभी कुछ दिन तक अलग-अलग झुकें तो हमको उस पर ऐतराज नहीं करना चाहिए। वह कोई शिकायत की बात नहीं। हमें दोनों को समझने की कोशिश करनी चाहिए; क्योंकि जितने अधिक शब्द हमारी भाषा में हों, उतना ही अच्छा।

५. लिपि के बारे में यह बिलकुल निश्चय हो जाना चाहिए कि दोनों लिपियां—देवनागरी और उर्दू—जारी रहें और हरेक को अधिकार हो कि जिसमें चाहे, वह लिखे। अक्सर इस बात की चर्चा होती है कि एक प्रांत में हिन्दी लिपि को दबाते हैं, जैसे सरहदी प्रांत; दूसरे प्रान्त में उर्दू लिपि को मौका नहीं मिलता। हमें एक तरफ की बात खाली नहीं कहनी है, बल्कि सिद्धांत रखना है कि हर जगह दोनों लिपियों को पूरी आजादी होनी चाहिए। हिन्दी और उर्दू दोनों के प्रेमियों को मिल कर यह बात माननी चाहिए और इसका यत्न करना चाहिए।

६. यह प्रश्न असल में हिन्दी और उर्दू से भी दूर जाता है। मेरी राय में हर भाषा व हर लिपि को पूरी आजादी होनी चाहिए, अगर उसके बोलने और लिखने वाले काफी हों। मसलन, अगर कलकत्ते में काफी तामिल बोलने वाले रहते हैं तो उनको अधिकार होना चाहिए कि उनके

स्कूलों में तामिल द्वारा पढ़ाई हो। जाहिर है कि एक प्रान्त के राजनैतिक कार्य का अधिकांश भाग वहुत सारी भाषाओं में नहीं हो सकता। वह तो प्रान्त की ही भाषा में हो सकता है। उत्तर भारत और मध्यभारत में जहां जनता की हिन्दुस्तानी भाषा है, वहां एक भाषा और दो लिपियां सब जगह आजादी से चलनी चाहिए। इसके माने यह नहीं हैं कि हरेक को दो लिपियां सीखनी ही पड़ेंगीं। यह वच्चों पर वहुत बोझा हो जावेगा और इसलिए छूट होनी चाहिए कि वे या उनके मां-बाप कह सकें कि वह किस लिपि में सीखेंगे। कोशिश यह भी होनी चाहिए कि कुछ लोग दोनों लिपियां सीखें।

७. हिन्दी और हिन्दुस्तानी शब्दों पर वहुत वहस हुई है और गलतफहमियां फैली हैं। यह एक फिजूल की वहस है। दोनों ही शब्द हम अपनी राष्ट्रभाषा के लिए कह सकते हैं। दोनों सुन्दर हैं और हमारे देश और जाति से सम्बन्ध रखते हैं। लेकिन अच्छा हो, अगर इस वहस को वन्द करने के लिए हम वोलने की भाषा को हिन्दुस्तानी कहें और लिपि को हिन्दी या उर्दू कहें। इससे साफ-साफ मालूम हो जायगा कि हम क्या कह रहे हैं।

८. यह हिन्दुस्तानी भाषा क्या हो? दिल्ली या लखनऊ के रहनेवाले कहते हैं कि हमारी बोली आमफहम है। इसको हिन्दुस्तानी वनाओ; लेकिन वनारस, पटना, मध्यभारत और राजपूताना में जाइए तो काफी फर्क मिलता है। और अगर शहरों को छोड़कर देहातों में जावें तो और भी फर्क। फिर हमारी भाषा कौनसी हो?

हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिए, जो सभ्य हो और जिसे अधिक-से-अधिक जनता समझे। इसको हम बैठ कर कुछ कोषों का मुकाविला कर के नहीं वना सकते, और न दो-चार साहित्यकार (उर्दू और हिन्दी के) ही मिलकर इसको पैदा कर सकते हैं। इसकी वुनियाद तभी मजवूत पड़ेगी जव लिखने वाले आम जनता के लिए लिखेंगे और वोलने वाले उनके ही लिए वोलेंगे। तव यह दफ्तरी वहसें कि कितनी उर्दू और कितनी हिन्दी, सव खत्म हो जावेंगीं। जनता फैसला करेगी। जो उसकी समझ में आवेगा वह रहेगी, जो नहीं समझेगी वह हलके-हलके दव जावेगी।

इसलिए हमारे लिए सब से बुनियादी प्रश्न यही है कि हम आम जनता के लिए अपना साहित्य बनावें और उनको हमेशा अपने दिमागों के सामने रख कर लिखें। हर लिखने वाले को अपने से पूछना है, "मैं किसके लिए लिखता हूँ ?"

९. एक और बात। यह आवश्यक है कि हिन्दी में यूरोप की भाषाओं से प्रसिद्ध पुस्तकों का अनुवाद हो। इसी तरह से हम दुनिया के विचार यहां लायंगे और उसके साहित्य से लाभ उठायेंगे।

२५ जुलाई, १९३७

: १० :

दो मस्जिदें

आजकल अखबारों में लाहौर की शहीदगंज मस्जिद की प्रतिदिन कुछ-न-कुछ चर्चा होती है। शहर में काफी खलबली मची हुई है। दोनों तरफ मजहबी जोश दीखता है। एक-दूसरे पर हमले होते हैं, एक-दूसरे की बदनीयती की शिकायतें होती हैं और बीच में एक पंच की तरह अंग्रेज-हुकूमत अपनी ताकत दिखलाती है। मुझे न तो वाकयात ही ठीक-ठीक मालूम हैं कि किसने यह सिलसिला पहले छेड़ा था, या किसकी गलती थी, और न इसकी जांच करने की मेरी कोई इच्छा ही है। इस तरह के धार्मिक जोश में मुझे बहुत दिलचस्पी भी नहीं है। लेकिन दिलचस्पी हो या न हो, जब वह दुर्भाग्य से पैदा हो जाय, तो उसका सामना करना ही पड़ता है। मैं सोचता था कि हम लोग इस देश में कितने पिछड़े हुए हैं कि अदना-अदना-सी बातों पर जान देने को उतारू हो जाते हैं, पर अपनी गुलामी और फाकेमस्ती सहने को तैयार रहते हैं।

इस मस्जिद से मेरा ध्यान भटककर एक दूसरी मस्जिद की तरफ जा पहुंचा। वह एक बहुत प्रसिद्ध ऐतिहासिक मस्जिद है और करीब चौदह

सौ वर्ष से उसकी तरफ लाखों-करोड़ों निगाहें देखती आई हैं। वह इस्लाम से भी पुरानी है और उसने अपनी इस लम्बी जिन्दगी में न जाने कितनी बातें देखीं। उसके सामने बड़े-बड़े साम्राज्य गिरे, पुरानी सल्तनतों का नाश हुआ, धार्मिक परिवर्तन हुए। खामोशी से उसने यह सब देखा, और हर क्रान्ति और तबादले पर उसने अपनी भी पोशाक बदली। चौदह सौ वर्ष के तूफानों को इस आलीशान इमारत ने बर्दाश्त किया, वारिश ने उसको धोया, हवा ने अपने बाजुओं से उसको रगड़ा, मिट्टी ने उसके बाज हिस्सों को ढंका। बुजुर्गी और शान उसके एक-एक पत्थर से टपकती है। मालूम होता है, उसकी रग-रग और रेशे-रेशे में दुनिया भर का तजुरबा इस डेढ़ हजार वर्ष ने भर दिया है। इतने लम्बे जमाने तक प्रकृति के खेलों और तूफानों को बर्दाश्त करना कठिन था; लेकिन उससे भी अधिक कठिन था मनुष्यों की हिमाकतों और वहशतों को सहना। पर उसने यह सहा। उसके पत्थरों की खामोश निगाहों के सामने साम्राज्य खड़े हुए और गिरे; मजहब उठे और बैठे; बड़े-से-बड़े बादशाह, खूबसूरत-से-खूबसूरत औरतें, लायक-से-लायक आदमी चमके और फिर अपना रास्ता नाप कर गायब हो गए। हर तरह की वीरता उन पत्थरों ने देखी और देखी हर प्रकार की नीचता और कमीनापन। बड़े और छोटे, अच्छे और बुरे, सब आये और चल बसे; लेकिन वे पत्थर अभी कायम हैं। क्या सोचते होंगे वे पत्थर, जब वे आज भी अपनी ऊंचाई से मनुष्यों की भीड़ों को देखते होंगे—उनके बच्चों का खेल, उनके बड़ों की लड़ाई, फरेब और बेवकूफी ? हजारों वर्षों में इन्होंने कितना कम सीखा ! कितने दिन और लगेंगे कि इनको अक्ल और समझ आये ?

समुद्र की एक पतली-सी बांह एशिया और यूरोप को वहां अलग करती है। एक चौड़ी नदी की भांति बासफोरस बहता है और दो दुनियाओं को जुदा करता है। उसके यूरोपियन किनारे की छोटी-छोटी पहाड़ियों पर बाइजेन्टियम की पुरानी बस्ती थी। बहुत दिनों से वह रोमन साम्राज्य में थी, जिसकी पूर्वी सरहद ईसा की शुरू की शताब्दियों में ईराक तक थी; लेकिन पूरब की ओर से इस साम्राज्य पर अक्सर हमले होते थे।

रोम की शक्ति कुछ कम हो रही थी, और वह अपनी दूर-दूर की सरहदों की ठीक तरह रक्षा नहीं कर सकता था। कभी पश्चिम और उत्तर में जर्मन वहशी (जैसा कि रोमन लोग उन्हें कहते थे) चढ़ आते थे और उनका हटाना मुश्किल हो जाता तो कभी पूरब में ईराक की तरफ से या अरब से एशियाई लोग हमले करते और रोमन फौजों को हरा देते थे।

रोम के सम्राट् कान्सटेन्टाइन ने यह फैसला किया कि अपनी राजधानी पूरब की ओर ले जाय, ताकि वह पूर्वी हमलों से साम्राज्य की रक्षा कर सके। उसने बासफोरस के सुन्दर तट को चुना और बाइजेंटियम की छोटी पहाड़ियों पर एक विशाल नगर की स्थापना की। ईसा की चौथी सदी खतम होने वाली थी, जब कान्सटेंटिनोपल (उर्फ कुस्तुन्तुनिया) का जन्म हुआ। इस नवीन प्रबन्ध से रोमन साम्राज्य पूरब में जाकर मजबूत हो गया; लेकिन अब पश्चिमी सरहद और भी दूर पड़ गई। कुछ दिन बाद रोमन साम्राज्य के दो टुकड़े हो गए—एक पश्चिमी साम्राज्य और दूसरा पूर्वी साम्राज्य। कुछ वर्ष बाद पश्चिमी साम्राज्य को उसके दुश्मनों ने खतम कर दिया; लेकिन पूर्वी साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक और कायम रहा और बाइजेंटाइन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सम्राट् कान्सटेंटाइन ने केवल राजधानी ही नहीं बदली; बल्कि उससे भी बड़ा एक परिवर्तन किया। उसने ईसाई धर्म स्वीकार किया। उसके पहले ईसाइयों पर रोम में बहुत सख्तियां होती थीं। उनमें से जो रोम के देवताओं को नहीं पूजता था, या सम्राट् की मूर्त्ति का पूजन नहीं करता था, उसको मौत की सजा मिल सकती थी। अक्सर उसे मैदान में भूखे शेरों के सामने फेंक दिया जाता था। यह रोम की जनता का एक बहुत प्रिय तमाशा था। रोम में ईसाई होना एक बहुत खतरे की बात थी। वे बागी समझे जाते थे। अब एकाएक जमीन-आसमान का फर्क हो गया। सम्राट् स्वयं ईसाई हो गया और ईसाई-धर्म सबसे अधिक आदरणीय समझा जाने लगा। अब बेचारे पुराने देवताओं को पूजनेवाले मुश्किल में पड़ गये, और बाद के सम्राटों ने तो उनको बहुत सताया।

केवल एक सम्राट् फिर ऐसे हुए (जूलियन), जो ईसाई-धर्म को तिलांजलि देकर फिर देवताओं के उपासक बन गये; परन्तु तब ईसाई-धर्म बहुत जोर पकड़ चुका था, इसलिए बेचारे रोम और ग्रीस के प्राचीन देवताओं को जंगल की शरण लेनी पड़ी और वहां से भी वे धीरे-धीरे गायब हो गये।

इस पूर्वी रोमन साम्राज्य के केन्द्र कुस्तुन्तुनिया में सम्राटों की आज्ञा से बड़ी-बड़ी इमारतें बनीं और बहुत जल्दी वह एक विशाल नगर हो गया। उस समय यूरोप में कोई भी दूसरा शहर उसका मुकाबिला नहीं कर सकता था—रोम भी बिलकुल पिछड़ गया था। वहां की इमारतें एक नई तर्ज की बनीं, एक नई भवन बनाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें मेहराब, गुम्बज, बुर्जियां, खम्भे इत्यादि अपनी तर्ज के थे और जिसके अन्दर खम्भों वगैरा पर बारीक मोज़ाइक (पच्चीकारी) का काम होता था। यह इमारती कला बाइजेंटाइन कला के नाम से प्रसिद्ध है। छठी सदी में कुस्तुन्तुनिया में एक आलीशान कैथीड्रेल (बड़ा गिरजाघर) इस कला का बनाया गया जो सांक्टा सोफिया या सेंट सोफिया के नाम से मशहूर हुआ।

पूर्वी रोमन साम्राज्य का यह सबसे बड़ा गिरजा था और सम्राटों की यह इच्छा थी कि वह बेमिसाल बने और अपनी शान और ऊंचे दर्जे की कला में साम्राज्य के योग्य हो। उनकी इच्छा पूरी हुई और यह गिरजा अबतक बाइजेंटाइन कला की सबसे बड़ी फतह समझा जाता है। बाद में ईसाई-धर्म के दो टुकड़े हुए (हुए तो कई, लेकिन दो बड़े टुकड़ों का जिक्र है), और रोम और कुस्तुन्तुनिया में धार्मिक लड़ाई हुई। वे एक-दूसरे से अलग हो गए। रोम का बिशप (बड़ा पादरी) पोप हो गया और यूरोप के पश्चिमी देशों में बड़ा माना जाने लगा। लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य ने उसको नहीं माना, और वहां का ईसाई फिरका अलग हो गया। यह फिरका आर्थोडाक्स चर्च कहलाने लगा था; क्योंकि वहां की बोली ग्रीक हो गई थी। यह आर्थोडाक्स चर्च रूस और उसके आसपास भी फैला था।

सेंट सोफिया का केथीड्रेल ग्रीक चर्च (धर्म) का केन्द्र था और नौ सौ वर्ष तक ऐसा ही रहा। बीच में एक दफा रोम के पक्षपाती ईसाई (जो

आये थे मुसलमानों से जेहाद लड़ने) कुस्तुन्तुनिया पर टूट पड़े और उस पर उन्होंने कब्जा भी कर लिया; लेकिन वे जल्दी ही निकाल दिये गए।

आखिर में जब पूर्वी रोमन साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक चल चुका था और सेन्ट सोफिया की अवस्था भी लगभग नौ सौ वर्ष की हो रही थी, तब एक नया हमला हुआ, जिसने उस पुराने साम्राज्य का अन्त कर दिया। पन्द्रहवीं सदी में ओसमानली तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर फतह पाई। नतीजा यह हुआ कि वहां का जो सबसे बड़ा ईसाई केथीड्रेल था, वह अब सबसे बड़ी मस्जिद हो गई। सेन्ट सोफिया का नाम आया सुफीया हो गया। उसकी यह नई जिन्दगी भी लम्बी निकली—सैकड़ों वर्षों की एक तरह से वह आलीशान मस्जिद एक ऐसी निशानी बन गई, जिस पर दूर-दूर से निगाहें आकर टकराती थीं और बड़े मनसूबे गांठती थीं। उन्नीसवीं सदी में तुर्की साम्राज्य कमजोर हो रहा था। रूस इतना बड़ा देश होते हुए भी एक बन्द देश था। उसके साम्राज्य भर में कोई ऐसा खुला बन्दरगाह नहीं था, जो सर्दियों में बर्फ से खाली रहे और काम आ सके। इसलिए वह कुस्तुन्तुनिया की ओर लोभ-भरी आंखों से देखता था। इससे भी अधिक आकर्षण आध्यात्मिक और सांस्कृतिक था। रूस के जार (सम्राट्) अपने को पूर्वीय रोमन-सम्राटों के वारिस समझते थे और उनकी पुरानी राजधानी को अपने कब्जे में लाना चाहते थे। दोनों का मजहब वही आर्थोडाक्स ग्रीक चर्च था, जिसका नामी गिरजा सेन्ट सोफिया था। रूस को यह असह्य था कि उसके धर्म का सबसे पुराना और प्रतिष्ठित गिरिजा मस्जिद बना रहे। उसके ऊपर जो इस्लाम की निशानी हिलाल या अर्द्ध-चन्द्र था, उसके बजाय ग्रीक क्रास होना चाहिए।

धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी में जारों का रूस कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ता गया। जब करीब आने लगा तब यूरोप की और शक्तियां घबराईं। इंग्लैण्ड और फ्रांस ने रुकावटें डालीं, लड़ाई हुई; रूस कुछ रुका। लेकिन फिर वही कोशिश जारी हो गई। फिर वही राजनैतिक पेंच चलने लगे।

आखिरकार सन् १९१४ की बड़ी लड़ाई आरम्भ हुई और उसमें इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस और इटली में खुफिया समझौते हुए। दुनिया के सामने तो ऊंचे सिद्धान्त रखे गए आजादी के और छोटे देशों की स्वतन्त्रता के, लेकिन पर्दे के पीछे गिद्धों की तरह लाश के इन्तजार में उसके बंटवारे के मनसूबे किये गए।

पर ये मनसूबे भी पूरे नहीं हुए। उस लाश के मिलने के पहले जारों का रूस ही खत्म हो गया। वहां क्रान्ति हुई और हुकूमत और समाज दोनों का ही उलट-फेर हो गया। बोलशेविकों ने तमाम पुराने खुफिया समझौते प्रकाशित कर दिये, यह दिखाने को कि यूरोप की बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियां कितनी धोखेबाज हैं। साथ ही इस बात की घोषणा की कि वे (बोलशेविक) साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं और किसी दूसरे देश पर अपना अधिकार नहीं जमाना चाहते। हरेक जाति को स्वतंत्र रहने का अधिकार है।

यह सफाई और नेकनीयती पश्चिम की विजयी शक्तियों को पसन्द नहीं आई। उनकी राय में खुफिया सन्धियों का ढिंढोरा पीटना शराफत की निशानी नहीं थी। खैर, अगर रूस की नई हुकूमत नालायक है तो कोई वजह न थी कि वे अपने अच्छे शिकार से हाथ धो बैठें। उन्होंने—खासकर अंग्रेजों ने—कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा किया। ४८६ वर्ष बाद इस पुराने शहर की हुकूमत इस्लामी हाथों से निकलकर फिर ईसाई हाथों में आई। सुलतान खलीफा जरूर मौजूद थे; लेकिन वह एक गुड्डे की भांति थे। जिधर मोड़ दिये जायं, उधर ही घूम जाते थे। आया सुफीया भी हस्बमामूल खड़ी थी और मस्जिद थी; लेकिन उसकी वह शान कहां, जो आजाद वक्त में थी, जब स्वयं सुलतान उसमें जुमे की नमाज पढ़ने जाते थे!

सुलतान ने सर झुकाया, खलीफा ने गुलामी तसलीम की; लेकिन चन्द तुर्क ऐसे थे, जिनको यह स्वीकार न था। उनमें से एक मुस्तफा कमाल था, जिसने गुलामी से बगावत को बेहतर समझा।

इस अर्से में कुस्तुन्तुनिया के एक और वारिस और हकदार पैदा हुए—ये ग्रीक लोग थे। लड़ाई के बाद ग्रीस को मुफ्त में बहुत-सी जमीन

मिली और वह पुराने पूर्वी रोमन साम्राज्य का स्वप्न देखने लगा। अभी तक रूस रास्ते में था और तुर्की तो मौजूद ही था। अब रूस मुकाबिले से हट गया और तुर्क लोग हारे हुए परेशान पड़े थे। रास्ता साफ मालूम होता था। इंग्लैण्ड और फ्रांस के बड़े आदमियों को भी राजी कर लिया गया, फिर दिक्कत क्या?

लेकिन एक बड़ी कठिनाई थी। वह कठिनाई थी मुस्तफा कमालपाशा। उसने ग्रीक हमले का मुकाबिला किया और अपने देश से ग्रीक फौजों को बुरी तरह हराकर निकाला। उसने सुल्तान खलीफा को, जिसने अपने मुल्क के दुश्मनों का साथ दिया था, एक गद्दार (देश-द्रोही) कहकर निकाल दिया। उसने मुल्क से सल्तनत और खिलाफत दोनों का सिलसिला ही मिटा दिया। उसने अपने गिरे और थके हुए मुल्क को, हजार कठिनाइयों और दुश्मनों के सामने खड़ा किया और उसमें फिर नई जान फूंक दी। उसने सबसे बड़े परिवर्तन धार्मिक और सामाजिक किये। स्त्रियों को परदे के बाहर खींच कर जाति में सबसे आगे रखा। उसने धर्म के नाम पर कट्टरपन को दबा दिया और सिर नहीं उठाने दिया। उसने सबमें नई तालीम फैलाई—हजार वर्ष पुराने रिवाजों और तरीकों को खत्म किया।

पुरानी राजधानी कुस्तुन्तुनिया को भी उसने इस पदवी से उतार दिया। डेढ़ हजार वर्ष से वह दो बड़े साम्राज्यों की राजधानी रही थी। अब राजधानी एशिया में अंगोरा नगर हो गया—एक छोटा-सा शहर; लेकिन तुर्की की एक नई शक्ति का नमूना। कुस्तुन्तुनिया नाम भी बदल गया—वह इस्ताम्बूल हो गया।

और आया सुफीया? उसका क्या हशर हुआ? वह चौदह सौ वर्ष की इमारत इस्ताम्बूल में खड़ी है और जिन्दगी की ऊंच-नीच को देखती जाती है। नौ सौ वर्ष तक उसने ग्रीक धार्मिक गाने सुने और अनेक सुग-न्धियों को, जो ग्रीक पूजा में रहती हैं, सूंघा। फिर चार सौ अस्सी वर्ष तक अरबी अजान की आवाज उसके कानों में आई और नमाज पढ़ने वालों की कतारें उसके पत्थरों पर खड़ी हुईं।

और अब ?

एक दिन, कुछ महीनों की बात है,—इसी साल १९३५ में—गाजी मुस्तफा कमालपाशा (जिनको अब खास खिताब और नाम अतातुर्क का दिया गया है) के हुक्म से आया सुफीया मस्जिद नहीं रही। बगैर किसी धूमधाम के वहां के होजा लोग (मुस्लिम मुल्ला वगैरा) हटा दिये गए और अन्य मस्जिदों में भेज दिये गए। अब यह तय हुआ कि आया सुफीया बजाय मस्जिद के म्यूजियम (संग्रहालय) हो—खासकर बाइजेन्टाइन कलाओं का। बाइजेंटाइन जमाना तुर्कों के आने के पहले का ईसाई जमाना था। तुर्कोंने कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा १४५२ ई० में किया था। उस समय से समझा जाता है कि बाइजेंटाइन कला खत्म हो गई, इसलिए अब आया सुफीया एक प्रकार से फिर ईसाई जमाने को वापस चली गई—मुस्तफा कमाल के हुक्म से।

आजकल वहां जोरों से खुदाई हो रही है। जहां-जहां मिट्टी जम गई थी, हटाई जा रही है और पुराने मोजाइक्स निकल रहे हैं। बाइजेंटाइन कला के जानने वाले अमेरिका और जर्मनी से बुलाये गए हैं और उन्हीं की निगरानी में काम हो रहा है। फाटक पर संग्रहालय की तख्ती लटकती है और दरवान बैठा है। उसको आप अपना छाता-छड़ी दीजिए, उनका टिकट लीजिए और अन्दर जाकर इस प्रसिद्ध पुरानी कला के नमूने देखिए। और देखते-देखते इस संसार के विचित्र इतिहास पर विचार कीजिए, अपने दिमाग को हजारों वर्ष आगे-पीछे दौड़ाइये। क्या-क्या तसवीरें, क्या-क्या तमाशे, क्या-क्या जुल्म, क्या-क्या अत्याचार आपके सामने आते हैं! उन दीवारों से कहिए कि वे आपको अपनी कहानी सुनावें, अपने तजुरबे आपको दे दें। शायद कल और परसों जो गुजर गये, उन पर गौर करने से हम आज को समझें, शायद भविष्य के परदे को भी हटाकर हम झांक सकें।

लेकिन वे पत्थर और दीवारें खामोश हैं। उन्होंने इतवार की ईसाई पूजा बहुत देखीं और बहुत देखीं जुमे की निमाजें। अब हर दिन की नुमाइश है उनके साये में! दुनिया बदलती रही; लेकिन वे कायम हैं। उनके घिसे

हुए, चेहरे पर कुछ हलकी मुस्कराहट-सी मालूम होती है और धीमी आवाज-सी कानों में आती है—"इंसान भी कितना बेवकूफ और जाहिल है कि वह हजारों वर्ष के तजुरबे से नहीं सीखता और बार-बार वही हिमाकतें करता है।"

७ अगस्त, १९३५

: ११ :

विद्यार्थी और राजनीति

आजकल हिन्दुस्तान की हालत बड़ी विचित्र हो रही है और जो सवाल उठाये जाते हैं, वे हमें अचरज में डाल देते हैं। एक अजीब सवाल है, जो विद्यार्थियों और राजनीति से सम्बन्ध रखता है। कुछ लोग कहते हैं कि विद्यार्थियों को राजनीति में हर्गिज हिस्सा नहीं लेना चाहिए। राजनीति है क्या? भारत में आमतौर से जो उसका मतलब लगाया जाता है, उसके अनुसार सरकार की मदद करना या उसका समर्थन करना राजनीति नहीं है। राजनीति तो भारत की मौजूदा सरकार की आलोचना करना या सरकार के खिलाफ काम करना है।

विद्यार्थी कौन है? प्राथमिक स्कूलों के बच्चों से लेकर कालेजों के नवयुवक और नवयुवतियां तक, सब विद्यार्थी हैं। स्पष्टतः एक-से सिद्धान्त दोनों पर लागू नहीं हो सकते।

आज बहुत से वयस्क विद्यार्थियों को आने वाले प्रान्तीय चुनावों में वोट देने का अधिकार है। वोट देना राजनीति में हिस्सा लेना है। समझ-बूझ कर वोट देने के लिए जरूरी होता है कि राजनैतिक मसलों को समझा जाय, मसलों के समझने से अक्सर एक राजनैतिक नीति को भी मानना पड़ जाता है। नीति मानने पर नागरिक का कर्तव्य हो जाता है कि उस नीति का प्रचार करे और दूसरों का मत बदलकर उन्हें उस पर चलावे। इस तरह

वोटर जरूरी तौर पर राजनीतिक होना चाहिए। और अगर वह एक तेज नागरिक है तव तो उसे एक चतुर राजनीतिज्ञ होना चाहिए। जिनमें राजनैतिक या सामाजिक भावनाएं नहीं हैं, वे ही निष्क्रिय, तटस्थ या उदासीन रह सकते हैं।

वोटर के इस कर्त्तव्य से जुदा भी हरेक विद्यार्थी को, अगर उसे ठीक-ठीक शिक्षा मिली है, जिन्दगी और उसके मसलों के लिए अपने को तैयार करना चाहिए, नहीं तो उसकी शिक्षा पर की गई मेहनत वेकार जायगी। राजनीति और अर्थशास्त्र ऐसे मसलों को सुलझाते हैं। इसलिए आदमी जवतक उन्हें नहीं समझता तवतक उसे ठीक पढ़ा-लिखा नहीं कहा जा सकता। वहुत से आदमियों के लिए शायद यह मुश्किल है कि जीवन के निविड़ वन में साफ-साफ रास्ता देखें। पर इससे क्या? चाहे हम उन मसलों का हल जानते हों, या न जानते हों, कम-से-कम हमें उनकी खासियत का अन्दाज तो होना ही चाहिए। जिन्दगी कौन-कौन से सवाल हमसे करती है? जवाव इसका मुश्किल है; लेकिन अजीव वात तो यह है कि आदमी विना सवालों को ठीक-ठीक समझे उनका जवाव देने की कोशिश करते हैं। ऐसा वेकार रुख कोई गंभीर और विचारवान विद्यार्थी नहीं ले सकता।

तरह-तरह के वाद, जो आजकल की दुनिया में अपनी अहमियत रखते हैं—राष्ट्रवाद, उदारवाद, समाजवाद, साम्राज्यवाद, फासिज्म वगैरा—वे जुदा-जुदा दलों के इन्हीं जिन्दगी के सवालों को हल करने की कोशिशें हैं। इनमें कौन-सा हल ठीक है? या वे सव गलती पर हैं? हर हालत में हमें अपना निर्णय करना है और निर्णय करने के लिए जरूरी है कि ठीक-ठीक निर्णय करने की हममें समझ हो और ताकत हो। विचारों और कार्यों की स्वतंत्रता पर दवाव होने से ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। अगर विशाल सत्ता हमारे सिर पर वैठती है और हमें आजादी से सोचने से रोकती है, तव भी ऐसा नहीं किया जा सकता।

इस तरह सब विचारवान लोगों के लिए, खास तौर से और लोगों की बनिस्वत विद्यार्थियों के लिए, यह जरूरी हो जाता है कि वे राजनीति में पूरा-पूरा सैद्धान्तिक भाग लें। कुदरतन यह बात कम उमर के विद्यार्थियों की बनिस्वत, जिनके सामने जिन्दगी के मसले सपने में भी नहीं हैं, बड़ी उमर के विद्यार्थियों पर ही लागू होगी, जो जिन्दगी में पैर रख रहे हैं। लेकिन सैद्धान्तिक विचार ही ठीक तरह से समझने के लिए काफी नहीं है। सिद्धान्त के लिए भी व्यवहार की जरूरत होती है। पढ़ाई के खयाल से ही विद्यार्थियों को चाहिए कि वे लेक्चर-हाल को छोड़ कर गांवों, शहरों, खेत और कारखानों में जायं और वहां की असलियत की जांच करें और आदमियों के कामों में, जिसमें राजनैतिक काम भी शामिल है, कुछ हद तक हाथ बटावें।

आमतौर से हरेक को अपने काम की हद बांधनी होती है। विद्यार्थी का पहला कर्तव्य यह है कि वह अपने दिमाग और जिस्म को शिक्षित करे और उन्हें विचार करने, समझने और काम करने के लिए तेज औजार बनाये। जबतक विद्यार्थी को शिक्षा नहीं मिलती तबतक वह गहराई के साथ न तो सोच सकता है और न काम कर सकता है। पर शिक्षा पवित्र सलाह पा कर ही नहीं मिल जाती। उसके लिए थोड़ा-बहुत काम में लगना पड़ता है। उस काम के लिए, मामूली हालत में, सैद्धान्तिक शिक्षा मिलनी चाहिए। लेकिन काम को छोड़ा नहीं जा सकता, नहीं तो शिक्षा अधूरी रहेगी।

यह हमारी बदकिस्मती है कि भारत में पढ़ाई का तरीका [illegible] नाकामयाब है; लेकिन उससे भी बड़ी बदकिस्मती इस्तबिदाद का वातावरण है, जो उसको चारों ओर से घेर रहा है। अकेली शिक्षा ही नहीं [illegible] हिन्दुस्तान में हर जगह लाल फीताशाही वाली रियासतें और [illegible] मगज वाली ताकत आदमियों को अपने ही सांचे में ढालने की कोशिश करती है और विज्ञान की तरक्की और [illegible] के फैलाव को रोकती है।...हमारी यूनीवर्सिटी ने ही [illegible] [illegible] भारत [illegible]

हुई है और व्यवस्था रखने के बहाने वह उन सबको कुचल डालती है जो चुपचाप उसके हुक्म को नहीं मान लेते। वे ताकतें उन गुणों को पसंद नहीं करतीं जिन्हें आजाद मुल्कों में प्रोत्साहन दिया जाता है। वे साहस की भावना और आजाद हिस्सों में आत्मा के बहादुराना कामों को भी बर्दाश्त नहीं कर सकतीं। तब अगर हममें से ऐसे आदमी नहीं पैदा हो सकते जो ध्रुवों को या एवरेस्ट को जीतने की कोशिश करें, तत्त्वों को जीत कर आदमी के लिए फायदेमन्द बनावें, आदमी की न जानकारी और डरपोकपन, सुस्ती, और छुटाई को दूर करें और उसे ऊंचा बनाने की कोशिश करें, तो इसमें अचरज क्या है?

क्या विद्यार्थियों को राजनीति में जरूर हिस्सा लेना चाहिए? जिन्दगी में भी क्या वे हिस्सा लें—जिन्दगी की तरह-तरह की क्रियाओं में पूरा-पूरा हिस्सा? या क्लर्क बने ऊपर से आये हुक्मों को बजाते रहें? विद्यार्थी होते हुए वे राजनीति से बाहर नहीं रह सकते। भारतीय विद्यार्थियों को तो और भी राजनीति के सम्पर्क में रहना चाहिए। फिर भी यह सच है कि मामूली तौर से अपनी बढ़ोतरी के काल में दिमागी और जिस्मानी शिक्षा की ओर उनका विशेष ध्यान होना चाहिए। उन्हें कुछ नियमों का पालन करना चाहिए; लेकिन नियम ऐसे न हों कि उनके दिमाग को ही कुचल डालें उनके जोश को ही खत्म कर दें।

१ अक्टूबर, १९३६

: १२ :

महिलाओं की शिक्षा-पद्धति

अगर हमारे राष्ट्र को ऊंचा उठना है तो वह कैसे उठ सकता है जबतक कि आधा राष्ट्र—हमारा महिला-समाज—पिछड़ा रहता है, अज्ञानी और कुपढ़ रहता है? हमारे बच्चे किस प्रकार हिन्दुस्तान के संयत और

प्रवीण नागरिक हो सकते हैं, अगर उनकी माताएं खुद संयत और प्रवीण नहीं हैं? हमारा इतिहास हमें बहुत-सी चतुर और ऐसी औरतों के हवाले देता है जो सच्ची थीं और मरते-दम तक बहादुर रहीं। उनके उदाहरणों का हमारे लिए मूल्य है, उनसे हमें प्रेरणा मिलती है। फिर भी हम जानते हैं कि हिन्दुस्तान में तथा दूसरी जगहों में औरतों की हालत कितनी दीन है। हमारी सभ्यता, हमारे रीति-रिवाज, हमारे कानून सब आदमी ने बनाये हैं और आदमी ने अपने को ऊंची हालत में रखने का और स्त्रियों के साथ बर्तनों और खिलौनों जैसा बर्ताव करने और अपने फायदे और मनोरंजन के लिए उनका शोषण करने का पूरा ध्यान रखा है। इस लगातार बोझ के नीचे दबी रह कर औरतें अपनी शक्ति पूरी तरह से नहीं बढ़ा पाईं और तब आदमी उन्हें पिछड़ी हुई होने का दोष देता है!

धीरे-धीरे कुछ पश्चिमी देशों में औरतों को कुछ आजादी मिल गई है; लेकिन हिन्दुस्तान में हम अब भी पिछड़े हुए हैं, हालांकि उन्नति की भावना यहां भी पैदा हो गई है। यहां पर बहुत-सी सामाजिक बुराइयां हैं, जिनसे हमें लड़ना है और बहुत-से पुराने रीति-रिवाज, जो हमें बांधे हुए हैं और जो हमें अवनति की ओर ले जाते हैं, उन्हें तोड़ना है। पुरुष और स्त्रियां, पौधों और फलों की तरह आजादी की धूप और ताजी हवा में ही बढ़ सकती हैं।

हिन्दुस्तान की औरतों का काम है कि वे आदमी के बनाये हुए रीति-रिवाजों और कानूनों के जुल्म से अपने को मुक्त करें। इस लड़ाई को उन्हें खुद ही लड़ना होगा; क्योंकि आदमी से उन्हें मदद मिलने की सम्भावना नहीं है।

दीक्षांत-समारोह के अवसर पर मौजूद बहुत-सी लड़कियां और स्त्रियां अपनी पढ़ाई खत्म कर चुकी होंगी, डिग्री ले चुकी होंगी और इस या उस क्षेत्र में काम करने के लिए अपने को तैयार कर चुकी होंगी। इस विस्तृत दुनिया के लिए वे किन आदर्शों को लेकर जाएंगी और कौन-सी अन्दरूनी भावना उन्हें उत्साह देगी और उनके कामों की देख-भाल करेगी? मुझे

डर है, उनमें से बहुत-सी तो रोजमर्रा के रूखे घरेलू कामों में फंस जायंगी और कभी-कभी ही आदर्शों या दूसरे दायित्वों की बात सोचेंगी। बहुत-सी सिर्फ रोटी कमाने की बात सोचेंगी। इसमें सन्देह नहीं कि ये दोनों चीजें भी जरूरी हैं; लेकिन अगर महिला-विद्यापीठ[1] ने सिर्फ यही अपने विद्यार्थियों को सिखाया है तो उसने अपने उद्देश्य को पूरा नहीं किया। अगर किसी विद्यालय का औचित्य है तो वह यह कि वह सचाई, आजादी और न्याय के पक्ष में शूरवीरों को तैयार करे और दुनिया में भेजे। वे शूरवीर दमन और बुराइयों के विरुद्ध निर्भय होकर युद्ध करें। मुझे उम्मीद है कि आपमें से कुछ ऐसी हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो अंधेरी और बुरी घाटियों में पड़ी रहने की बनिस्बत पहाड़ पर चढ़ना और खतरों का मुकाबिला करना ज्यादा पसन्द करेंगी।

लेकिन हमारे विद्यालय पहाड़ पर चढ़ने में प्रोत्साहन नहीं देते। वे तो चाहते हैं कि नीचे के देश और घाटी सुरक्षित रहें। वे मौलिकता और आजादी को प्रोत्साहन नहीं देते और हमारे विदेशी शासकों के सच्चे बच्चों की भांति ऊपर से शासन और व्यवस्था का थोपा जाना उन्हें पसन्द है। इसमें ताज्जुब ही क्या है, अगर उनके काम निराशाजनक, बेकार और क्षीण हैं और हमारी बदलती हुई दुनिया में ठीक नहीं बैठते हैं!

हमारे विद्यालयों की बहुतों ने आलोचना की है। उनमें से बहुत-सी आलोचनाएं ठीक भी हैं। वास्तव में मुश्किल से किसी ने हिन्दुस्तान के विश्वविद्यालयों की तारीफ की है। लेकिन आलोचकों ने भी विद्यालय की शिक्षा को उच्चवर्गीय साधन माना है। उसका जनता से कोई सम्बन्ध नहीं है। शिक्षा की जड़ें धरती में होकर नीचे जनता तक पहुंचनी चाहिए, अगर शिक्षा को वास्तविक और राष्ट्रीय होना है। हमारी विदेशी सरकार और पुरानी दुनिया के रीति-रिवाज के कारण यह आज संभव नहीं है। लेकिन आप में से जो विद्यापीठ से निकल कर दूसरों की शिक्षा में मदद देंगी,

---

१ महिला-विद्यापीठ, प्रयाग

लड़ेंगीं और इस तरह मुल्क में बराबरी पैदा करने में मदद नहीं देंगीं ? हमारे शादी के बहुत से कानून हैं और प्राचीन रीति-रिवाज हैं, जो हमें पीछे रोके हुए हैं और खास तौर से हमारी स्त्रियों को कुचलते हैं। क्या आप उनसे मोरचा नहीं लेंगीं और उन्हें मौजूदा हालतों के साथ नहीं लावेंगीं ? क्या आप खुली हवा में खेल-कूद और व्यायाम और रहन-सहन से स्त्रियों के शरीर को पुष्ट करने के लिए, जिससे हिन्दुस्तान में मजबूत, तन्दुरुस्त और सुन्दर स्त्रियां और खुश बच्चे हों, शक्ति और दृढ़ता के साथ नहीं लड़ेंगीं ? और सब से ऊपर, क्या आप राष्ट्रीय और सामाजिक स्वतन्त्रता की लड़ाई में, जो आज हमारे मुल्क में हलचल मचाये हुए है, एक बहादुराना हिस्सा नहीं लेंगीं ?

ये बहुत-से सवाल मैंने आपसे किये हैं, लेकिन उनके जवाब उन हजारों बहादुर लड़कियों और स्त्रियों से मिल गये हैं जिन्होंने हमारी आजादी की जंग में खास हिस्सा लिया है। सार्वजनिक काम करने की आदत न होने पर भी घर-बार का सहारा छोड़ कर हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई में अपने भाइयों के साथ कंधे-से-कंधा मिला कर खड़ी हुई उन बहनों को देख कर कौन नहीं सिहर उठा ? बहुत-से आदमियों को जो अपने को आदमी कहते थे, उन्होंने लज्जा से भर दिया और दुनिया, को घोषित कर दिया कि हिन्दुस्तान की औरतें भी अपनी लम्बी नींद से उठ बैठी हैं और अब उनके अधिकारों से इन्कार नहीं किया जा सकता।

हिन्दुस्तान की औरतों ने मेरे सवालों के जवाब दे दिये हैं और इसलिए महिला-विद्यापीठ की लड़कियो और स्त्रियो, मैं आपका अभिनन्दन करता हूं और आपके हाथ में यह जिम्मेदारी सौंपता हूं कि आप आजादी की मशाल को प्रज्वलित रखें, जबतक कि उसकी लपटें हमारे इस प्राचीन और प्रिय देश में सब जगह फैल न जावें।

: १३ :

भाषा का आधार

हमें हिन्दुस्तानी को उत्तरी और मध्य भारत की राष्ट्रीय भाषा समझ कर विचार करना चाहिए। दोनों रूप सर्वथा भिन्न हैं। इसलिए इन पर अलहदा-अलहदा विचार होना चाहिए।

हिन्दुस्तानी के हिन्दी और उर्दू दो खास स्वरूप हैं। यह साफ है कि दोनों का आधार एक है, व्याकरण भी एक है और दोनों का कोष भी एक ही है। वास्तव में दोनों का उद्गम एक ही है। इतना होने पर भी इस समय दोनों में जो भेद हो गया है, वह भी विचारणीय है। कहा जाता है कि कुछ हद तक हिन्दी का आधार संस्कृत और उर्दू का फारसी है। इन दोनों भाषाओं पर इस दृष्टिकोण से विचार करना कि हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा है, युक्तिसंगत नहीं है। उर्दू की लिपि को छोड़ कर यदि हम केवल भाषा पर ही विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि उर्दू हिन्दुस्तान के बाहर कहीं भी नहीं बोली जाती है। हां, उत्तरी भारत के बहुत से हिन्दुओं के घरों में वह बोली जाती है।

मुसलमानों के शासनकाल में फारसी राजदरबार की भाषा रही है। मुगल शासन के अन्त तक फारसी का इसी रूप में प्रयोग होता रहा तथा उत्तरी और मध्य भारत में हिन्दी बोली जाती रही। एक जीवित भाषा के नाते फारसी के बहुत से शब्द इसमें प्रचलित हो गये। गुजराती और मराठी में भी ऐसा ही हुआ। यह जरूर हुआ कि हिन्दी हिन्दी ही रही। राजदरबार में रहनेवाले व्यक्तियों में हिन्दी प्रचलित रही; किन्तु उसमें इतना परिवर्तन हो गया कि वह लगभग फारसी-जैसी हो गई। यह भाषा 'रेखता' कहलाती थी। शायद मुगलों के शासन-काल में मुगल-कैम्पों से 'उर्दू' शब्द प्रचलित हुआ। यह शब्द हिन्दी का पर्यायवाची समझा जाता था। उर्दू शब्द से वही अर्थ समझा जाता था जो हिन्दी से। १८५७ के विद्रोह तक हिन्दी और उर्दू में लिपि को छोड़ कर और कोई भेद नहीं था। यह तो

सभी जानते हैं कि कई हिन्दी के प्रमुख कवि मुसलमान थे। गदर तक ही नहीं; बल्कि उसके वाद भी कुछ दिनों तक प्रचलित भाषा के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग किया जाता था। यह लिपि के लिए प्रयोग नहीं किया जाता था, बल्कि भाषा के लिए। जिन मुसलमान कवियों ने, अपने काव्य उर्दू-लिपि में लिखे, वे भी भाषा को हिन्दी ही कहा करते थे।

१९ वीं सदी के आरम्भ के लगभग 'हिन्दी' और 'उर्दू' शब्दों के प्रयोग में कुछ फर्क होने लगा। यह फर्क धीरे-धीरे बढ़ता गया। शायद यह फर्क उस राष्ट्रीय जागृति का प्रतिविम्ब था, जो कि हिन्दुओं में हो रही थी। उन्होंने परिष्कृत हिन्दी और देवनागरी की लिपि पर जोर दिया। आरंभ में उनकी राष्ट्रीयता का स्वरूप एक प्रकार से हिन्दू राष्ट्रीयता ही था। आरम्भ में ऐसा होना अनिवार्य भी था। इसके कुछ दिनों वाद मुसलमानों में भी धीरे-धीरे जागृति पदा हुई। उनका राष्ट्रीयता का स्वरूप भी मुस्लिम राष्ट्रीयता ही था।

इस तरह से उन्होंने उर्दू को अपनी भाषा समझना शुरू कर दिया। लिपियों के वारे में वाद-विवाद होने लगा और यह भी मतभेद का एक विषय वन गया कि अदालतों और सरकारी दफ्तरों में किस लिपि का प्रयोग किया जाय। राजनैतिक और राष्ट्रीय जागृति का ही यह परिणाम था कि भाषा की लिपि के विषय में मतभेद हुआ। आरम्भ में इसने साम्प्रदायिकता का स्वरूप लिया। जैसे-जैसे यह राष्ट्रीयता वास्तविक राष्ट्रीयता का स्वरूप लेती गई, अर्थात् हिन्दुस्तान को एक राष्ट्र समझा जाने लगा और साम्प्रदायिकता की भावना दवने लगी, वैसे ही भाषा के सम्बन्ध में इस मत-भेद को समाप्त करने की इच्छा वढ़ती गई। वुद्धिमान् व्यक्तियों ने उन अनगिनत वातों पर प्रकाश डालना शुरू कर दिया, जो हिन्दी और उर्दू दोनों में ही दिखाई देती थीं। इस वात की चर्चा होने लगी कि हिन्दुस्तानी उत्तरी और मध्य भारत की ही नहीं, वल्कि समस्त देश की राष्ट्रभाषा है। खेद की वात है कि भारत में अभी तक साम्प्रदायिकता का जोर है, अतः वह मत-भेद भी एकता की मनोवृत्ति के साथ-साथ अभी

तक मौजूद है ! यह निश्चय है कि जब राष्ट्रीयता का पूरा विकास हो जायगा तो यह मत-भेद स्वयं ही खत्म हो जायगा। हमें यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि तभी हम समझ सकेंगे कि इस बुराई की जड़ क्या है। आप किसी भी ऐसे व्यक्ति को ले लीजिए जो इस मत-भेद से सम्बन्ध रखता हो। उसके बारे में खोज कीजिए तो आपको पता चलेगा कि वह सम्प्रदायवादी और सम्भवतः राजनैतिक प्रतिक्रियावादी है। यद्यपि मुगलों के शासन-काल में हिन्दी और उर्दू दोनों शब्दों का ही प्रयोग होता था; किन्तु उर्दू शब्द खास तौर से उस भाषा का द्योतक था जो मुगलों की फौजों में बोली जाती थी। राज-दरबार और छावनियों के समीप रहने वालों में कुछ फारसी के शब्द भी प्रचलित थे और वही शब्द बाद में भाषा में भी प्रचलित हो गये। मुगलों के केन्द्र से दक्षिण की ओर चलते जाइए तो मालूम होगा कि उर्दू शुद्ध हिन्दी में मिल गई। देहातों की बनिस्बत नगरों पर ही अदालतों का यह असर पड़ा और नगरों में भी मध्यभारत के नगरों की बनिस्बत उत्तरी भारत में और भी ज्यादा असर पड़ा।

इससे हमें पता चलता है कि आज की उर्दू और हिन्दी में क्या भेद है। उर्दू नगरों की और हिन्दी ग्रामों की भाषा है। हिन्दी नगरों में भी बोली जाती है, किन्तु उर्दू तो पूरी तरह से शहरी भाषा ही है।

उर्दू और हिन्दी को निकट लाने की समस्या का स्वरूप बहुत बड़ा है; क्योंकि इन दोनों को समीप लाने का अर्थ शहरों और गांवों को समीप लाना है। किसी और मार्ग का अवलम्बन करना व्यर्थ होगा और उसका असर भी स्थिर न होगा। यदि कोई भाषा बदल जाती है तो उसके बोलने वाले भी बदल जाते हैं। उस हिन्दी और उर्दू में अधिक भेद नहीं है जो आमतौर पर घरों में बोली जाती है। साहित्यिक दृष्टि से जो भेद पैदा हो गया है वह भी पिछले चन्द वर्षों में ही हुआ है। साहित्य का भेद बड़ा भयंकर है। कुछ लोगों का विश्वास है कि कुछ खास व्यक्ति ही इसके लिए जिम्मेदार हैं। इस प्रकार की कल्पना करना उचित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो इस भेद को बढ़ते देख कर प्रसन्न होते हैं; किन्तु जीवित

भाषाओं की प्रगति इस ढंग से नहीं होती। कुछ व्यक्ति उन्हें अपने ढंग पर लाना भी चाहें तो नहीं ला सकते। इसके लिए हमें गम्भीरता से विचार करना होगा। यद्यपि इस भेद का होना बड़ी बदकिस्मती की बात है; किन्तु फिर भी यह इस बात का द्योतक है कि भविष्य अच्छा ही है। हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं में कुछ दिनों की स्थिरता के बाद फिर कुछ गति आने लगी है और दोनों ही अपना मार्ग ढूंढ़ रही हैं। वे नवीन विचारों को प्रकट करने के लिए संघर्ष कर रही हैं, और पुराने मार्गों को छोड़कर एक नया स्वरूप धारण करती जा रही हैं। जहां तक नये विचारों का सम्बन्ध है, वहां दोनों का ही शब्द-कोष दरिद्र है; किन्तु दोनों ही अन्य भाषाओं से इस अभाव की पूर्ति कर सकती हैं। हिन्दी संस्कृत से और उर्दू फारसी से इस अभाव को पूरा कर रही है। इस प्रकार जैसे-जैसे हम घरेलू भाषा को छोड़ कर अन्य भाषाओं का सहारा लेते हैं, वैसे-वैसे यह भेद बढ़ता जाता है। साहित्यिक संस्थाएं अपनी-अपनी भाषा को परिष्कृत रखने के लिए उत्सुक रहती हैं। यह मनोवृत्ति बढ़ते-बढ़ते एक सीमा पर पहुंच जाती है और तब वे आपस में एक-दूसरे को इस भेद के लिए जिम्मेदार ठहराती हैं। अपनी आंख का तो ताड़ भी दिखाई नहीं देता और दूसरे की आंख का तिल भी दिखाई दे जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी और उर्दू के बीच की खाई बढ़ी है और कभी-कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि दोनों का विकास अलग-अलग भाषाओं के रूप में होना निश्चित है। यह आशंका अनुचित और निर्मूल है।

हिन्दी और उर्दू की इस नई धारा का, चाहे इससे कुछ दिनों के लिए दोनों के बीच की खाई बढ़ ही क्यों न जाय, स्वागत करना चाहिए। मौजूदा हिन्दी और उर्दू राजनैतिक, वैज्ञानिक, आर्थिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक विचारों को व्यक्त करने में असमर्थ हैं। दोनों ही इस कमी को पूरा करने के लिए अपना कोष बढ़ा रही हैं और इसमें उन्हें सफलता भी मिल रही है। एक-दूसरे को आपस में सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि हम सभी चाहते हैं कि हमारी भाषा का कोष भरपूर हो। यदि हम हिन्दी या उर्दू में से किसी

भी एक के शब्दों को नष्ट करने का प्रयत्न करेंगे तो हम कभी भी अपनी भाषा का कोष न बढ़ा पायंगे। हम दोनों ही भाषाओं को चाहते हैं, हमें दोनों को स्वीकार करना चाहिए। हमें यह समझना चाहिए कि यदि हिन्दी का विकास होता है तो उर्दू का भी होता है और यदि उर्दू का होता है तो हिन्दी का भी। दोनों का ही एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ेगा और दोनों का ही कोष बढ़ेगा। दोनों को नये-नये शब्दों और विचारधाराओं का स्वागत करने को तैयार रहना चाहिए। मेरी वास्तविक इच्छा यह है कि हिन्दी और उर्दू अपने में विदेशी भाषाओं के शब्दों और विचारों को शामिल कर लें और उन्हें अपना बना लें। ऐसे शब्दों के लिए जो आमतौर पर अंग्रेजी, फ्रेंच और अन्य विदेशी भाषाओं में बोले जाने लगे हैं, संस्कृत या फारसी के शब्द गढ़ना ठीक नहीं है।

मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि हिन्दी और उर्दू अवश्य ही एक-दूसरे के निकट आयंगीं। यह हो सकता है कि उनका स्वरूप भिन्न हो; किन्तु भाषा एक ही होगी। इसके लिए जो वातावरण पैदा हो रहा है, वह बहुत शक्तिशाली है। यदि कुछ लोग उसका विरोध भी करेंगे तो वे सफल नहीं हो सकते। राष्ट्रीयता का जोर बढ़ता जा रहा है और साथ-ही-साथ यह भावना भी जोर पकड़ती जा रही है कि भारत में एकता का होना जरूरी है। अन्त में इसी भावना की विजय होनी निश्चित है। इसके अलावा एक बात और है। वह यह कि यातायात के साधनों, विचारों और राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। इनका असर पड़ना भी लाजिमी है। हमारे लिए अपने तंग दायरे में ऐसे समय सीमित रहना, जबकि संसार क्रांतिकारी हालत में है, मुमकिन नहीं। जन-साधारण में शिक्षा का प्रसार होने से भाषा में एकता और प्रामाणिकता आ जायगी। एक परिणाम यह भी होगा कि उसका एक माप या मान भी कायम हो जायगा।

इसलिए हमें हिन्दी और उर्दू के विकास को आशंका की निगाह से नहीं देखना चाहिए। हिन्दी-प्रेमियों को उर्दू का विकास और उर्दू-प्रेमियों को हिन्दी का विकास देख कर प्रसन्न होना चाहिए। आज दोनों के कार्य-क्षेत्र भिन्न हो सकते हैं; किन्तु अन्त में दोनों को मिल ही जाना है। यद्यपि हम

इस अलगाव को सहन कर लेते हैं; किन्तु हमें दोनों की एकता के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए। इस एकता का आधार क्या होगा? एकता का आधार जन-साधारण होंगे। हिन्दी और उर्दू ही जन-साधारण के लिए होगी। हमारे सामने जो कठिनाइयां आती हैं उनका एक कारण यह भी है कि हम भाषा की बनावट के फेर में पड़ जाते हैं और इस प्रयत्न में हम जन-साधारण से सम्पर्क खो बैठते हैं। लेखक जो कुछ लिखते हैं वह किसके लिए? हरेक लेखक के ध्यान में, जान में या अनजान में. यह बात अवश्य रहती है कि वह जो कुछ लिख रहा है, वह किसके लिए लिख रहा है? वह अपने दृष्टिकोण को किसके सामने रखना चाहता है? शिक्षा की कमी के कारण पाठकों की संख्या बहुत ही परिमित होती है; किन्तु यह परिमित संख्या भी काफी होती है और धीरे-धीरे इस संख्या में वृद्धि ही होगी। यद्यपि मैं इस विषय में कोई विशेषज्ञ नहीं हूं; किन्तु फिर भी इतना अवश्य कहूंगा कि लेखक इस परिमित संख्या से भी काफी लाभ नहीं उठाता है। उसे तो उस साहित्यिक समाज का ही ध्यान रहता है, जिसमें वह सदा विचरण करता रहता है और जो उसकी कृतियों की प्रशंसा करता है। वह उन्हीं की भाषा में लिखता है। उसके विचार जनता तक नहीं पहुंच पाते। यदि जनता तक पहुंचें भी तो वह उन्हें समझ नहीं पाती। इन कारणों के होते हुए भी यदि हिन्दी और उर्दू की पुस्तकों की खपत कम है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमारे समाचार-पत्रों की वृद्धि न होने का भी यह एक कारण है। उनमें भी उसी साहित्यिक भाषा का प्रयोग होता है।

हमारे लेखकों को चाहिए कि वे जन-साधारण को ही अपना पाठक समझें और जो कुछ भी लिखें वह उनके लिए ही लिखें। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि भाषा सरल हो जायगी। जब किसी भी भाषा में बनावट आने लगती है तो उसके नाश के दिन निकट आ जाते हैं। भाषा के सरल होने के साथ-साथ यह बनावट भी दूर हो जायगी और ऐसे शब्द प्रयोग में आने लगेंगे जिनमें ओज और शक्ति भी अधिक होगी। अभी तक हममें से यह भावना दूर नहीं हुई कि साहित्य और संस्कृति उच्च वर्गों की

देन है। यदि हम इसी दृष्टिकोण से सोचते रहेंगे तो हम एक तंग दायरे के अन्दर ही रह जायंगे और जन-साधारण से जरा-सा भी सम्पर्क कायम न कर सकेंगे। संस्कृति का आधार अधिक विशाल होना चाहिए अर्थात् वह जन-साधारण पर अवलम्बित होनी चाहिए। भाषा संस्कृति का एक अंग है, अतः उसका आधार भी वही होना चाहिए जो संस्कृति का है।

जन-साधारण के निकट पहुंचने का सवाल सरल शब्दों या मुहावरों के उन भावों से है जिन्हें ये व्यक्त करते हैं। भाषा के द्वारा ही जन-साधारण से अपील की जाती है, इसलिए भाषा ऐसी होनी चाहिए जो उनके लिए उपयुक्त हो और उनके कष्टों, आशाओं और सुखों को पूरी तरह जाहिर कर सके। भाषा को एक छोटे-से वर्ग के जीवन का दर्पण न हो कर जन-साधारण के जीवन का द्योतक होना चाहिए। इतना होने पर भाषा की जड़ें ज्यादा मजबूत हो सकती हैं और तभी उसे जन-साधारण का सहारा मिल सकता है।

यह बात केवल हिन्दी और उर्दू से नहीं, बल्कि भारत की समस्त भाषाओं से सम्बन्ध रखती है। मैं जानता हूं कि उन सबमें इन्हीं विचारों का जोर हो रहा है और जन-साधारण की अधिक-से-अधिक चिन्ता की जा रही है। इस मार्ग की गति और भी तेज होनी चाहिए। लेखकों का भी यही लक्ष्य होना चाहिए कि वे इसे प्रोत्साहन दें।

मेरे विचार में इस बात की बड़ी जरूरत है कि हमारी भाषाओं का विदेशी भाषाओं से सम्पर्क स्थापित हो। प्राचीन और मौजदा पुस्तकों का अनुवाद किया जाय। ऐसा करने से हमें दूसरे देशों की संस्कृति और साहित्य का ज्ञान हो जायगा और हम उनके सामाजिक आन्दोलनों से भी परिचित हो जायंगे। नये विचारों से हमारी भाषा को भी ताकत मिलेगी।

जन-साधारण से सम्पर्क बढ़ाने में बंगला सब से आगे है। बंगला का साहित्य बंगाल की जनता के जीवन से दूर नहीं है। जन-साधारण और उच्च वर्ग के भेद को विश्व-कवि टैगोर ने काफी दूर कर दिया है। आज रविबाबू की कविताएं ग्रामों के झोंपड़ों में भी सुनाई देती हैं। इससे बंगाल

के साहित्य में ही वृद्धि नहीं हुई, बल्कि बंगाल की जनता को भी प्रोत्साहन मिला है। बंगला बहुत शक्तिशाली भाषा बन गई है और उसमें सरल शब्दों के द्वारा बड़े-बड़े साहित्यिक मुहावरों को व्यक्त किया जा सकता है। इससे हम शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और अपनी भाषा को भी वही रूप दे सकते हैं। इस सम्बन्ध में गुजराती का भी जिक्र कर देना उचित जान पड़ता है। मैंने सुना है कि गांधीजी की सरल भाषा का गुजराती पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

२५ जुलाई, १९३७

: १४ :

भारत की नई रचना

आजकल सारी दुनिया के सामने, क्या एशिया में और क्या हिन्दुस्तान में, एक असाधारण संकट आ गया है। आप राजनैतिक, आर्थिक और अन्य क्षेत्रों में संकटग्रस्त स्थितियों के बारे में भी पढ़ते होंगे । और पिछले युद्धों, मुसीबतों और सम्भवतः आने वाले युद्धों के बारे में भी। बेशक आप जानते होंगे कि हम एक बड़ी चट्टान के बिलकुल किनारे पर बैठे हैं। लेकिन शायद आप लोगों के हृदय में वे भावनाएं न हों जो मुझमें हैं। मुझे ऐसा लगता है कि जिन महान परिवर्तनों में से हम आजकल गुजर रहे हैं, वैसा मानव-समाज के पूर्व इतिहास में कभी नहीं हुआ। मेरा इतिहास का सीमित ज्ञान मुझे इसकी कोई मिसाल नहीं देता। हो सकता है कि हम उन विषयों को कुछ अहमियत न दें जिनके बारे में हम रोज सुनते हैं, देखते हैं और महसूस करते हैं। लेकिन मैं यह जरूर महसूस करता हूं कि हम एक महान क्रांति में से गुजर रहे हैं, जबकि शायद सारे मानव-समाज का ढांचा ही पलट जाय। यह एक बहुत बड़ी बात है कि हम इन भारी परिवर्तनों के समय मौजूद हैं। हमारे चारों

ओर नाटक खेले जा रहे हैं जो प्रायः दुखान्त होते हैं। हम एक ज्वालामुखी पहाड़ पर बैठे हैं, जिस पर से हम नीचे गिर सकते हैं। कुछ लोग शायद इसे पसंद करें और दूसरे इससे डर जायं। लेकिन चाहे हम इसे पसंद करें या न करें, हमारी पीढ़ी और शायद आने वाली पीढ़ी भी इन परिवर्तनों से बच नहीं सकती। मैं चाहता हूं कि आप अपनी समस्याओं पर इस पृष्ठ-भूमि से विचार करें। दुनिया भर में राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तन अवश्य होंगे। अगर कोई बात निश्चित कही जा सकती है तो वह यह कि दुनिया का वह आर्थिक और राजनैतिक ढांचा, जिसकी बदौलत दुनिया पिछले २५ साल में मुसीबतों में फंसी रही है, बिलकुल निकम्मा साबित हुआ है और यह उस वक्त तक कामयाब नहीं हो सकता जबतक कि इसे बिलकुल तब्दील न किया जाय। यदि आप वर्तमान समस्याओं को सुलझाने, युद्ध को टालने और शान्ति कायम रखने का प्रयत्न करना चाहते हैं तो आपको इस दुनिया की नई रचना करनी होगी। लेकिन अगर इस नई रचना की बुनियाद पुराने आर्थिक और राजनैतिक ढांचे पर आश्रित रही तो वह अवश्य असफल होगी। दोनों महायुद्धों के बीच के जमाने का विश्व का इतिहास इस असफलता को प्रकट करता है, क्योंकि लोगों ने सदैव पुरानी आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था के आधार पर समस्याओं को हल करने की कोशिश की। वे अपने सत्प्रयत्नों के बावजूद असफल रहे, क्योंकि नष्ट होने वाली बुनियाद पर कोई चीज कैसे खड़ी की जा सकती थी? एक और युद्ध हुआ, लेकिन आश्चर्य की बात है कि इस जबरदस्त संकट के आने पर भी लोगों की आंखें न खुलीं कि हमारी सब मुसीबतें पुराने आर्थिक और राजनैतिक ढांचे की ही बदौलत हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि जबतक यह ढांचा तब्दील नहीं किया जायगा, नई मुसीबतें खड़ी होती रहेंगी। मैं यह अच्छी तरह अनुभव करता हूं कि आज जो संकट आ गया है, उसकी जड़ें गहरी हैं। उसे मनोवैज्ञानिक कहिए या आध्यात्मिक, अर्थात् उसका सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा से है। लेकिन इससे अधिक मैं उसकी व्याख्या नहीं कर सकता और न कुछ अधिक कह सकता हूं। आज दुनिया

एक गहरी आत्मिक उथल-पुथल से गुजर रही है—धर्म के मर्यादित अर्थ में नहीं, क्योंकि आप लोग जानते हैं कि मैं धार्मिक मनुष्य नहीं हूं—बल्कि इसके दूसरे व्यापक अर्थ में। केवल किसी विशेष व्यक्ति या राष्ट्र के सामने नहीं, बल्कि मानवता के सामने एक संकट आ गया है। मैं नहीं कह सकता कि इस संकट का क्या परिणाम होगा, लेकिन मेरा विश्वास है कि इससे मानवता में एक भारी परिवर्तन आ जायगा जो अब से बहुत पहले ही आ जाना चाहिए था। यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है जिसके बारे में कुछ कहने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। यह आपको समझ लेना चाहिए, विशेषकर नौजवानों को, कि आप बड़ी-बड़ी घटनाओं के नजदीक खड़े हैं। ये घटनाएं आपको मुसीबत में भी फंसा सकती हैं, लेकिन मेरा विश्वास है कि आपके सामने एक नवीन और सुन्दर मानव-जीवन आने वाला है। आइये, हम अपने देश की और एशिया की मौजूदा समस्याओं पर विचार करें। अगर आप हमारे पिछले इतिहास को देखें तो मालूम होगा कि सैकड़ों साल पहले इतिहास में एक परिवर्तन आया था, जबकि यूरोप ने, जिसका विकास एशिया द्वारा ही शुरू हुआ, एशिया के मामलात में अधिकाधिक हस्तक्षेप करना शुरू किया। इसके पश्चात यूरोप ने एशिया के सम्बन्ध में आक्रमणकारी रूप धारण कर लिया। पिछले लगभग २०० वर्षों में यूरोप विश्व की घटनाओं का केन्द्र बन गया। यूरोप न केवल अपनी फौजी शक्ति के कारण ही, बल्कि अपने विचार, विज्ञान और अन्य गुणों के आधार पर एक प्रभुत्वशाली शक्ति बन गया। निस्संदेह एशिया इन गुणों के अभाव में नीचे गिरता गया और इतिहास में उतना प्रभावशाली भाग न ले सका जितना यूरोप। एशिया बिलकुल अप्रगतिशील बन गया, यहाँ तक कि उसने परिवर्तन की भाषा में विचार करना ही बंद कर दिया। आज आप क्या देखते हैं? आप देखें कि विश्व की घटनाओं का केन्द्र अब यूरोप से हट कर दुनिया के दूसरे हिस्सों में जा रहा है, खासकर अमरीका में, जो कि नई दुनिया में एक शक्तिशाली और नवीन जाति है। यद्यपि प्रगति बहुत धीमी है, फिर भी एशिया में तब्दीली आ रही है। यह साफ जाहिर है कि भविष्य में आपत्ति

और उन्नति दोनों के केन्द्र अब ज्यादातर एशिया में ही होंगे। आजकल यूरोप एक जर्जर महाद्वीप बन गया है जिसमें बहुत-सी बहादुर जातियां रहती हैं। यूरोप के कई प्रदेश, केवल जन-संख्या में भारी गिरावट के कारण ही भविष्य में आक्रमणकारी रूप धारण करने के अयोग्य बन गए हैं। कोई देश कई बुनियादी प्रेरणाओं और प्रोत्साहनों के कारण आक्रमण किया करता है। उन बुनियादी कारणों में से एक यह भी था कि यूरोप की आबादी पिछले १०० वर्ष में बहुत शीघ्रता से बढ़ गई थी। पिछले २५ वर्षों में यह आबादी बहुत घट गई है। हो सकता है कि प्रकृति का नियम ही ऐसा हो। लेकिन मैं तो केवल एक सत्य को पेश कर रहा हूं। चूंकि यूरोप के प्रदेशों की जन-संख्या घट गई है, इसलिए उनके आक्रमणकारी होने की सम्भावना भी कम हो गई है, और उनको अपना जीवन-माप उतना ही ऊंचा रखने में कठिनाई पड़ेगी। मुझे ऐसा लगता है कि यूरोप अपनी उच्च संस्कृति और ऊंचे जीवन-माप के कारण विश्व के मामलों में अवश्य अहम भाग लेता रहेगा। लेकिन यह भी सत्य है कि अब यूरोप घटनाओं का केन्द्र नहीं रह सकता। निस्संदेह उसकी जगह अमरीका आ गया है। मैं आपको यह बतलाना चाहता हूं कि एशिया क्रमशः जल्दी ही अपने पहले वाले स्थान पर पहुंच रहा है। मैं फौजी शक्ति के बारे में विचार नहीं कर रहा हूं। किसी राष्ट्र की उन्नति के लिए फौजी शक्ति ही काफी नहीं है, क्योंकि फौजी शक्ति भी तो आखिर विज्ञान और विशेष कला-संबंधी ज्ञान के विकास पर ही निर्भर करती है। अब हम एक ऐसी मंजिल पर पहुंच चुके हैं कि यदि भिन्न-भिन्न देश अब भी फौजी शक्ति के बारे में ही बराबर सोचते रहेंगे तो वे बिलकुल नष्ट हो जायंगे। सैनिक शक्ति के अलावा और कोई हल निकालना पड़ेगा। इसलिए मैं उस जबरदस्त शक्ति के बारे में विचार कर रहा हूं जिसे पाकर लोग उत्तरोत्तर उन्नति करते जाते हैं और मानव-जीवन के प्रत्येक विभाग में विकास करते हैं। मैं यह महसूस करता हूं कि भारतवर्ष ने ही नहीं,अपितु एशिया के एक बड़े हिस्से ने इस आवश्यक शक्ति को, जो पहले उनमें बहुत बड़ी तादाद में मौजूद थी, खो दिया था। मेरा

विश्वास है कि हम अब फिर उस शक्ति को पा रहे हैं; क्योंकि हमारी बुनियाद पक्की होती जा रही है। मुझे यक़ीन है कि इस दुनिया में कोई चक्र अवश्य काम करता है और एशिया निकट भविष्य में दुनिया के मामलात में महत्वपूर्ण भाग लेगा। मेरा यह भी ख्याल है कि इसमें हिन्दुस्तान का बड़ा हाथ रहेगा। साधारणतः हमारी इच्छाओं और आकांक्षाओं का असर हमारे कामों पर पड़ता है, लेकिन हमें इन समस्याओं पर तटस्थता से विचार करना चाहिए।

इसमें कुछ भारत की विशेष भौगोलिक परिस्थिति का भी असर है। इसके अलावा और भी कई कारण हैं। क्या आप यह जानते हैं कि अंग्रेजों के भारतवर्ष में आने का एक मुख्य परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष एशिया के सभी पड़ौसी देशों से बिलकुल कट गया? हम बिलकुल अलग रह गए। हजारों वर्ष पूर्व, दक्षिण-पश्चिम और उत्तर-पूर्व एशिया के साथ भारत का सम्बन्ध था। अंग्रेजों के आने पर खुश्की के सब रास्ते बंद हो गए। समुद्री रास्तों पर अंग्रेजों का अधिकार था, इसलिए बाहरी दुनिया के साथ हमारा सम्बन्ध ब्रिटेन के द्वारा ही था। हम अपने पड़ौसियों की अपेक्षा यूरोप के कई स्थानों से अधिक नजदीक थे। यह एक निहायत अजीब बात थी और इसकी वजह से हमारी विचारधारा में भी अनेक प्रकार के परिवर्तन आए। अब फिर परिवर्तन आ रहा है और वह यह कि एशियायी प्रदेशों के साथ—पश्चिम एशिया, चीन या दक्षिण-पूर्वी-एशिया, जो कई बातों में हिन्दुस्तान से अब भी मिलते-जुलते हैं—फिर से सम्बन्ध जुड़ रहा है। इससे ज्ञात होता है कि अब परिस्थिति शीघ्रता से बदल रही है और भारत अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण समस्त हिन्द सागर के प्रदेशों के साथ, दक्षिण-पूर्वी एशिया, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड से लेकर खलीज ईरान तक और पश्चिम के प्रदेशों के साथ गहरा सम्बन्ध जोड़ रहा है।

अगर आप युद्ध-कौशल की दृष्टि से इस पर विचार करें तो आप देखेंगे कि भारत को केन्द्र बनाए बिना विशाल हिन्द सागर के लिए रक्षा-व्यूह की रचना करना सम्भव नहीं है। भारत के बिना दक्षिण-पूर्वी एशिया की रक्षा

नहीं हो सकती और भारत के सहयोग के विना हिन्द सागर के पश्चिमी भाग की भी रक्षा नहीं हो सकती। भारतवर्ष की स्थिति ऐसी है कि इसे किसी भी रक्षा-व्यूह का केन्द्र बनना होगा। हिन्द सागर में व्यापार भी अधिकांश भारतवर्ष पर ही अवलम्बित है। इसलिए भारत का एक अहम केन्द्र बनना तो अनिवार्य ही है। हम भारतवर्ष में किसी नीति के अनुसार चलें तो ये सब बातें अवश्य पूरी होंगीं। हमारी स्वतंत्रता के स्वरूप, औपनिवेशिक पद, पूर्ण स्वतंत्रता तथा अन्य बातों के बारे में सब प्रकार की चर्चाएं होती हैं। इनमें सार हो सकता है और नहीं भी। असल बात यह है कि पिछले जमाने में भारतवर्ष का प्रभाव सारे एशिया पर नहीं तो उसके अधिकांश हिस्से पर अवश्य था। अब भी बहुत जगह पुरानी स्मृतियां ताजा हैं। एशिया के कई प्रदेश संस्कृति के लिए भारत का मुंह ताकते हैं। इसलिए भारतवर्ष कभी ऐसी स्थिति में नहीं रह सकता कि वह किसी अन्य देशके साथ जुड़ कर उसका पिछलग्गू बन जाय। भारतवर्ष को मजबूर नहीं किया जा सकता कि वह अमुक देशों के साथ ही अपनी मित्रता रखे। मित्रों को छांटने का काम भारत का है। यह निर्णय करना उसके हाथ में है कि भविष्य में उसका दृष्टिकोण क्या होगा, विदेश-नीति और गृह-नीति क्या होगी? यह सौभाग्य की बात है कि दुनिया में सबसे ज्यादा भारत ने अमन के लिए कोशिश की है। इसलिए जब हम इस प्रकार की चर्चाएं करते हैं तो भारत के अमुक दल या देश के साथ गुटबंदी करने का अर्थ यह नहीं है कि वह अन्य देशों के विरोध में है, क्योंकि प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य इस चीज को महसूस करता है कि अगर दुनिया में सच्ची तरक्की और शान्ति कायम करनी है तो वह परस्पर विरोधी बड़ी जातियों या दलों के बीच फौजी सुलहनामा करने से नहीं होगी; बल्कि इसका आधार एक नए विश्व की रचना पर होगा, जिसमें एक प्रकार का प्रजातंत्रात्मक राज्य होगा, जिसमें सारे देश स्वतंत्र सदस्य की हैसियत से होंगे। इसीलिए मैं चाहता हूं कि आप इस प्रकार विचार करें कि अब एशिया जाग उठा है और उसमें हिन्दुस्तान एक अहम हिस्सा लेगा। उसकी स्थिति ऐसी है कि वह

एशिया के भिन्न-भिन्न भागों को—मध्यपूर्व, दक्षिण-पूर्व, जिनके साथ पहले भी उसके गहरे ताल्लुक थे—आपस में जोड़ने के लिए एक कड़ी का काम देगी। इसका यह मतलब नहीं कि हिन्दुस्तान का और देशों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। अवश्य रहेगा, क्योंकि भारत हमेशा अमन के पक्ष में है।

जैसा मैंने शुरू में ही कहा था, हमारे सामने भारी परिवर्त्तन आने वाले हैं। परिवर्तन कई ज्ञात और अज्ञात कारणों से आते हैं। लेकिन प्रत्यक्ष में परिवर्तन का कारण मनुष्य-मात्र ही होते हैं। मनुष्यों को ठीक शिक्षा देने का काम यूनीवर्सिटी का है। मैं नहीं कह सकता कि आजकल शिक्षा कहां तक ठीक दी जा रही है। हम ऐसे परिवर्तन लाने की चिन्ता में नहीं हैं कि अचानक हुकूमत का तखता पलट जाय, वल्कि समाज के वुनियादी ढांचे में परिवर्तन लाना चाहते हैं। आप किस हद तक उसके लिए तैयार हो रहे हैं? दूर भविष्य में नहीं, बल्कि निकट वर्तमान में नए भारत की रचना में मददगार बनने के लिए आप कैसी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं? आप जानते हैं कि हमारे देश में, विशेषकर बंगाल में, वकीलों के पेशे पर बहुत जोर दिया जाता है, जवकि वकीलों का पेशा विलकुल अनावश्यक है। आप जानते हैं कि शिक्षा के दूसरे विभागों की ओर कितना कम ध्यान दिया जाता है। शायद कलकत्ता यूनीवर्सिटी सब से बढ़ी हुई है और वहां के पाठ्य-विषय सब से ज्यादा हैं। लेकिन अभी यह नहीं कहा जा सकता कि इस यूनीवर्सिटी के सामने आने वाले नए भारत की कल्पना कहां तक है। हम भारतवर्ष की स्वतंत्रता के बारे में बातें जरूर करते हैं, लेकिन क्या आपकी इच्छा के भारत का चित्र आपकी आंखों के सामने है? जबतक आपके सामने कोई कल्पना नहीं है, या जीवन की कोई दृष्टि नहीं है, तो शिक्षा कैसे दी जा सकती है? इसलिए यह जरूरी है कि जिस प्रकार की समाज-रचना आप चाहते हैं उसके बारे में आपकी कल्पना स्पष्ट हो। दो वर्ष पहले बंगाल में जो अकाल हुआ वह इस बात का सूचक है कि सरकार नाकाबिल है और दूसरी बातों को एक तरफ छोड़ कर, मौजूदा समाज-व्यवस्था इतनी खराब

हो चुकी है कि अब यह रह नहीं सकती। आपको नए सिरे से रचना करनी होगी। हमें इतना अवश्य मालूम है कि हमें किस ओर जाना है। चुनांचे हमें उसके लिए तैयार रहना चाहिए। जाहिर है कि आपको ४० करोड़ आदमियों के खाने, कपड़े और आश्रय के बारे में विचार करना पड़ेगा। हमें अपनी जीवन-दृष्टि के अनुसार आयोजना करनी चाहिए। बंगाल की भुखमरी के पश्चात विदेशी सरकार कुछ दिन टिक सकती है, लेकिन राष्ट्रीय हुकूमत तो एक दिन भी नहीं चल सकती। आप इन समस्याओं को कैसे सुलझायंगे? यह काम दो-चार वजीर मुकर्रर करने से नहीं हो सकता, बल्कि उत्पत्ति और बंटवारे का काम ठीक तरह सोच-विचार कर करने से हो सकता है। यह सम्भव है कि आपकी योजना मुकम्मिल न हो, लेकिन आपके सामने मसले स्पष्ट होने चाहिए। मैं अपने आपको एक समाजवादी खयाल करता हूं। मैं चाहता हूं कि आप समस्याओं पर ज्यादा व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें, जिससे हम क्षण भर के लिए सब 'वादों' को छोड़ कर ४० करोड़ जनता को भोजन, कपड़े और आश्रय देने की व्यवस्था कर सकें। यह एक बड़ा भारी काम है। मेरी अपनी राय यह है कि इन समस्याओं का हल निकल सकता है औरअवश्य निकलेगा। हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो इन समस्याओं को हल करने में सहायता दे। किसी हद तक आप ऐसा कर रहे हैं। शायद और यूनीवर्सिटी की अपेक्षा कलकत्ता यूनिवर्सिटी सब से अधिक प्रयत्न कर रही है। लेकिन आपका दृष्टि-बिन्दु क्या है? वह वैज्ञानिक होना चाहिए। विज्ञान युग का आधार है। कोई देश विज्ञान के बिना वर्तमान में उन्नति नहीं कर सकता। साथ ही यह भी सत्य है कि यद्यपि विज्ञान ने वर्तमान युग में बहुत तरक्की की है, फिर भी इसका जीवन-सम्बन्धी कोई निश्चित ध्येय नहीं है। इसका इस्तैमाल बुराई और भलाई दोनों के लिए हो सकता है। यह आत्माहीन है। विज्ञान ने नैतिकता में कोई खास तरक्की नहीं की है। फिर भी विज्ञान ही दुनिया का मूल आधार है। आप विज्ञान के बिना काम नहीं चला सकते। प्रत्येक यूनिवर्सिटी और विद्यापीठ के लिए यह आवश्यक हो जाता

है कि वह विज्ञान और समाज-शास्त्र की ओर अधिक ध्यान दे। इसलिए प्रत्येक यूनीवर्सिटी के लिए यह जरूरी है कि वह ऐसे शिक्षित व्यक्ति तैयार करे जो नवीन भारत की रचना में एकदम काम आ सकें। यह सही है कि यहां बिजली और यंत्र-निर्माण-शास्त्र की शिक्षा दी जाती है. लेकिन मेरा विचार है कि अभी कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिनकी ओर आपका ध्यान नहीं गया है। मैं आप से प्रश्न करता हूं—क्या आप स्थापत्य-कला विशेषज्ञ और नक्शे वगैरा बनाने वाले भी तैयार कर रहे हैं? हमें उनकी हजारों की तादाद में जरूरत है। इंजीनियर, टेकनीशियन आदि की भी बहुत जरूरत है। दूसरे शब्दों में, मैं चाहता हूं कि आप यह विचार करें कि हमें इतनी भारी इमारत खड़ी करनी है जिसमें ४० करोड़ मनुष्य समा सकें। आप यह भी याद रखें कि हमारे दूसरे देशों के साथ पुराने सम्बन्ध फिर से ताजा हो रहे हैं। स्वतंत्र भारत का सम्पर्क दुनिया के सभी देशों के साथ होगा और विशेषकर एशिया के प्रदेशों के साथ। क्या आप ऐसे व्यक्ति पैदा करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जोकि हमारी ओर से विदेशों में राजदूतों का काम दें? इसके लिए उनको विशेष शिक्षा देनी है। उनको अपनी भाषा और अंग्रेजी भाषा के अलावा और जबानें भी सीखनी पड़ेंगीं। उनको राजनीति की शिक्षा के साथ-साथ अन्य कई प्रकार की शिक्षाएं लेनी पड़ेंगीं। अगर इन सब कामों के लिए हमारे पास शुरू में बीज रूप में कुछ सुशिक्षित कार्यकर्ता मिल जायं तो बाद में उनकी संख्या बढ़ाई जा सकती है। लेकिन अगर हमारे पास शुरू में ही कार्यकर्ताओं की कमी रहे तो हमें बहुत समय लग जायगा, क्योंकि फिर हमें बिलकुल नए सिरे से आरम्भ करना पड़ेगा। मेरी इच्छा है कि आप वर्तमान वाद-विवादों में फंसे न रह कर इस अहम समस्या पर गौर करें। . . . . भारतवर्ष को अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार काम करना चाहिए। अपनी आंखों के सामने इस नए भारत, नए एशिया और नई दुनिया का चित्र रखते हुए भविष्य के लिए तैयारी करनी होगी। मैं नहीं कह सकता कि आपमें से कितने लोगों के सामने पूरा चित्र होगा। लेकिन आप सबके सामने भारत की राजनैतिक

स्वतंत्रता की कल्पना तो अवश्य ही होगी। मैं इसे मंजूर कर लेता हूं। मेरे सामने स्वतंत्र भारत का रूप कुछ अधिक विशाल है, जो राजनैतिक स्वतंत्रता मात्र से कहीं अधिक शानदार है। यह स्वतंत्रता ४० करोड़ जनता के लिए होगी, जिसमें हरेक को विकास का अवसर मिलेगा, सबको जीवन की आवश्यकताएं प्राप्त होंगीं. और जिन लोगों को फुर्सत होगी वे ज्ञान और विज्ञान की खोज कर सकेंगे और मानवता के उस रोमांचकारी पथ पर चल सकेंगे जिसका श्रीगणेश हजारों साल पहले इसी देश में हुआ था। हम अतीत को पीछे छोड़ जायंगे और उत्साहपूर्वक रोमांचकारी यात्रा पर आगे बढ़े चलेंगे। हमें इस बात से कुछ-न-कुछ सन्तोष अवश्य मिलेगा कि हम आगे बढ़ रहे हैं, क्योंकि हमने अपने छोटे-से जीवन में वह काम किया है, जो हमें करना चाहिए था।

१९४६

: १५ :

कांग्रेस और समाजवाद

समाजवाद भला हो या बुरा, सुदूर भविष्य का एक सपना-मात्र हो या इस जमाने की अहम समस्या; पर इतना तो जरूर है कि इसने आज हम हिन्दुस्तानियों के दिमाग में एक अच्छी जगह कर ली है। इस शब्द की काफी खींचतान हुई है और हमसे जोर दे कर कहा जाता है कि इसमें हिंसा की बू है या इसके पीछे कम्यूनिज्म की छाया है।

सच तो यह है कि समाजवाद क्या है, यह बहुतेरे आलोचकों की समझ में ही नहीं आया है। उनके दिमाग को इसकी एक धुंधली तस्वीर ही नजर आती है। पेशेवर अर्थशास्त्री भी, सरकारी प्रचारकों की तरह, इसमें ईश्वर और धर्म को घसीटकर या विवाह और स्त्रियों के चरित्र-भ्रष्ट होने की बातें कह कर इसकी असलियत को खराब कर देते हैं। हमें इसके

लिए उलाहना नहीं देना है, हालांकि ऐसे लोगों को, जो कहें कि हम अच्छी तरह पढ़-लिख सकते हैं, वर्णमाला समझना एक झंझट का काम है। आश्चर्य तो यह है कि इस तरह की बातें, समाजवाद के बारे में यह गर्जन-तर्जन, वे करते हैं, जिन्हें यह पसन्द नहीं, जो इस शब्द को कोष में भी रहने देना नहीं चाहते, जो इस विचार-धारा के विरोधी हैं ।

समाजवाद तो—जैसा कि हरेक स्कूली छात्र को जानना चाहिए—एक ऐसे आर्थिक सिद्धान्त का नाम है जो मौजूदा दुनिया की उलझनों को समझने और उन्हें सुलझाने की कोशिश करता है । यह इतिहास समझने का नया दृष्टिकोण और उसके द्वारा मानव-समाज को संचालितकर ने वाले नियमों को ढूंढ़ निकालने का नया तरीका भी है। दुनिया के लोग काफी संख्या में इसमें विश्वास करते हैं और इसे कार्य रूप में परिणत करना चाहते हैं। प्रशान्त महासागर से बाल्टिक सागर तक फैला हुआ प्रशान्त भूखण्ड तो इसके अधीन हो ही गया है, साथ ही फ्रांस, स्पेन जैसे दूसरे-दूसरे मुल्क भी इसकी परिधि तक पहुंच गए हैं। इस समय दुनिया में शायद ही ऐसा कोई देश होगा, जहां इसके पक्के अनुयायी काफी तादाद में न हों। इसके सिद्धान्त को माननेवाले किसी पर खामखाह इसकी सचाई मढ़ना नहीं चाहते; लेकिन वे हम हिन्दुस्तानियों से इतनी आशा तो जरूर करते हैं कि हम इस पर गौर के साथ निष्पक्ष हो कर मनन करें। वे हमसे जानना चाहते हैं कि हम अपनी आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं को किस तरह हल कर सकते हैं। इस पर सोचने के बाद हमें हक है कि हम इसे एकदम अस्वीकार कर दें या अगर सोलहों आने कबूल न करें तो कम-से-कम कुछ सबक तो सीखें। जो आन्दोलन दुनिया के करोड़ों दिलों और दिमागों पर कब्जा किये हुए है, उसकी तरफ से एकदम आंखें बन्द कर लेना अक्लमन्दी का रास्ता तो न होगा।

लेकिन हां, यह कहना सही है कि इस समय राजनैतिक समस्या ही प्रमुख चीज है। बिना आजादी के समाजवाद या हमारे आर्थिक संगठनों के आमूल परिवर्तन की बात बिलकुल थोथी, सिर्फ खयाली पुलाव है।

समाजवाद पर किसी तरह का बहस-मुबाहिसा करने से गड़बड़ मच जाती है और हम काम करने वालों में फूट पैदा हो जाती है। राजनैतिक आजादी पर ही हमें अपनी ताकत केन्द्रित करनी चाहिए। यह दलील गौर करने लायक है; क्योंकि हमारी कोई हरकत ऐसी नहीं होनी चाहिए, जिससे साम्राज्यवाद के विरुद्ध लिया गया हमारा संयुक्त मोरचा टूट जाय और हम कमजोर पड़ जायं। कट्टर-से-कट्टर समाजवादी भी कुछ हद तक इस बात को मानता है; क्योंकि वह समझता है कि इस समय राजनैतिक स्वतंत्रता ही हमारा सब से पहला और जरूरी मकसद है। दूसरी-दूसरी चीजें तो इसके बाद आप-से-आप खुद चली आयंगीं। बगैर इसके दूसरा ठोस परिवर्तन हो नहीं सकता।

इस तरह हमारे लिए एक बड़ा 'कामन ग्राउण्ड' है। राष्ट्रीयता हमारी सब से पहली आवश्यकता और चिन्ता है, यह तय है; लेकिन फिर भी इस सम्मिलित लक्ष्य को देखने का तरीका भी एक नहीं है।

कोई नहीं चाहता कि हम कार्यकर्त्ताओं में फूट पैदा हो जाय। यह तो सभी हमेशा से कहते आ रहे हैं कि हम अपने शक्तिशाली दुश्मन से संयुक्त मोर्चा लें; लेकिन हम यह कैसे भुला सकते हैं कि हमारे अन्दर परस्पर स्वार्थों के संघर्ष मौजूद हैं और जैसे-जैसे हम सियासी तरक्की करते जाते हैं, समाजवाद और आर्थिक बातें तो दूर रहीं, हमारे ये संघर्ष ज्यादा साफ होते जाते हैं। जब कांग्रेस गरमदल वालोंके हाथ में आई तो नरमदल वाले हट गये। इसका सबब आर्थिक पहलू नहीं था; बल्कि जब हम राजनैतिक प्रगति में बहुत आगे बढ़ने लगे और नरमदल वालों ने समझ कर या बिना समझे देखा कि इतना आगे बढ़ना उनके स्वार्थ के लिए खतरनाक साबित होगा, तो वे अलग हो गए। ताज्जुब की बात तो यह है कि बावजूद इसके कि हमें अपने कुछ पुराने साथियों से जुदा होने पर बहुत अफसोस होता, इससे कांग्रेस कमजोर नहीं हुई। कांग्रेस ने एक दूसरी बड़ी तादाद को अपने अन्दर खींच लिया और वह एक अधिक शक्तिशाली और ज्यादा प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था हो गई। इसके बाद असहयोग

का जमाना आया और फिर कुछ आदमी बहुमत के साथ लम्बी छलांग मारने में असमर्थ हो गये। वे भी हटे (इस बार भी राजनैतिक बुनियाद पर ही, हालांकि इसकी आड़ में बहुतेरी दूसरी बातें भी थीं)। वे हट गये, फिर भी कांग्रेस कमजोर नहीं हुई। एक बड़ी तादाद में नये लोग इसमें शामिल हुए और अपने लम्बे इतिहास में पहली बार यह हमारे देहातों में एक जबर्दस्त शक्ति बनी। इस तरह यह पहले-पहल भारत का प्रतिनिधित्व करनेवाली और अपने आदेशों से करोड़ों नर-नारियों को जीवन-मय करने वाली सिद्ध हुई। यहां जैसे ही हम राजनैतिक क्षेत्र में आगे बढ़े, छोटे-छोटे गिरोहों और हमारी विशाल जनराशि के बीच का पुराना संघर्ष ज्यादा साफ मालूम पड़ा। यह संघर्ष हमने पैदा नहीं किया। इसकी ओर बिना खयाल किये हम आगे बढ़े और इससे हमारे बल और प्रभाव में तरक्की हुई।

धीरे-धीरे हमारे राजनैतिक आकाश में नये मामलों के नये रंगों का आविर्भाव हुआ। गांधीजी ने किसानों के बारे में आवाज उठाई। उनके नेतृत्व में चम्पारन और खेड़ा में जबर्दस्त आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। यह कोई राजनैतिक चाल नहीं थी, हालांकि राजनीति का ही कुपरिणाम था, जिससे बचना नामुमकिन था। हमारे आन्दोलन में उन्होंने यह नई उलझन क्यों पैदा की? जनता की भयंकर दरिद्रता का प्रचार वह क्यों करने लगे? हमारे आन्दोलन की गहराई के केन्द्र को बदलने के लिए यह एक नई चर्चा, हमारे रास्ते का नया मोड़ था। वह उसे अच्छी तरह जानते थे और जान-बूझ कर हमारी राजनैतिक समस्या के आर्थिक पहलू के लिए लड़े। क्या इसी वजह से और उनके व्यक्तित्व के कारण ही कांग्रेस के झंडे के नीचे लाखों व्यक्ति नहीं आ जुटे? तब हममें से हर आदमी 'किसान-किसान' चिल्लाने लगे और वह पीड़ित, कुचला हुआ समाज हमारी तरफ कुछ सांत्वना और आशा ले कर मुखातिब हुआ।

गांधीजी हिन्दुस्तान के करोड़ों की दरिद्रता पर जोर देने लगे। उसूलन हम यह बात जरूर जानते थे; क्योंकि हमने अपनी आंखों देखा था और

दादाभाई, डिग्वी, रानडे, रमेशचन्द्र दत्त आदि हमारे पहले के नेताओं ने हमें सिखलाया था। फिर भी यह हम पढ़े-लिखे मध्यमवर्ग वालों के लिए किताबों और आंकड़ों की ही चीज थी। गांधीजी ने इसे एक जीता-जागता पहलू बनाया। हमने पहले-पहल भूख से मरते हुए पीड़ित जन-समूह का, अपने देश भारत की भयंकर दरिद्रता का, दर्शन किया। इस भूख और बेकारी को दूर करने के लिए ही उन्होंने चरखे और करघे का पुनरुद्धार करने पर जोर दिया। वहुत-से लोग जो अपने को वहुत अक्लमन्द समझते थे, इसका मखौल करने लगे; लेकिन चरखा, हालांकि वह गरीबी की समस्या को वहुत ज्यादा सुलझा न सका, बहुतों के लिए एक आधार सिद्ध हुआ। इससे बढ़ कर इसके जरिये स्वावलम्वन और सहयोग की भावना जागृत हुई, जिसका हममें सवसे ज्यादा अभाव था। हमारे राजनैतिक आन्दोलन में चरखे का जवर्दस्त हाथ रहा। यहां फिर हमने देखा कि हमारी राष्ट्रीय कशमकश में एक बाहरी चीज, ग़ैर-सियासी मामले को महत्त्व मिल गया।

कुछ सालों के बाद गांधीजी हरिजन-समस्या पर भी जोर देने लगे। उनकी इस हरकत से सनातनियों के कुछ गिरोह गुस्से में आ गये। यह पुराने रिवाजों के प्रतिनिधियों, स्वार्थियों और प्रगतिशील ताकतों के दरम्यान संघर्ष था। फूट के हौए से डर कर गांधीजी ने इस अपने वड़े आन्दोलन को वन्द नहीं कर दिया। यह सीधा राजनैतिक मामला नहीं था, फिर भी उठाया गया और मुनासिव तौर से उठाया गया।

इस तरह हम देखते हैं कि कांग्रेस के अन्दर और वाहर स्वार्थ-सम्वन्धी संघर्ष हमेशा से ही आगे आते रहे हैं। ख्वाह यह वात शारदा-एक्ट जैसी समाज-सुधार-सम्वन्धी हो, या वहुत-से गिरोहों से सम्वन्ध रखने वाली राजनैतिक या मजदूर-किसानों से सरोकार रखने वाली कोई चर्चा हो, ये स्वार्थों के संघर्ष हमेशा से ही पैदा होते हैं। हमें फूट से विलकुल वचना चाहिए; पर इसके अस्तित्व की अवहेलना कैसे कर सकते हैं? आखिर, हम इसके लिए कर ही क्या सकते हैं? सोलह साल तक जोर देकर कहते

आये कि हम जनता के लिए हैं। इसके बाद हमें एक ही बात देखनी है और वह यह कि इस संघर्ष से जनता का कहां तक नुकसान होता है? इस सवाल का जवाब गांधीजी ने गोलमेज कांफ्रेंस (लन्दन १९३१) से अपने एक व्याख्यान में दिया था। उन्होंने कहा था :

"सबसे बढ़कर कांग्रेस उन करोड़ों मूक, भूख से अधमरे लोगों का प्रतिनिधित्व करती है, जो ब्रिटिश भारत या तथाकथित भारतीय भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक सात लाख गांवों में फैले हुए हैं। हरेक स्वार्थ को, अगर वह कांग्रेस की राय में सुरक्षित रखे जाने के काबिल ह, इन गूंगे करोड़ों किसान-मजदूरों के स्वार्थों का सहायक बनना होगा। इसलिए आप बार-बार कुछ स्वार्थों में परस्पर साफ-साफ मुठभेड़ होते देखते हैं। और अगर कहीं सच्ची विशुद्ध मुठभेड़ हुई तो मैं बिना किसी हिचकिचाहट के, कांग्रेस की ओर से, घोषित करता हूं कि कांग्रेस इन गूंगे करोड़ों किसानों के हितों की खातिर हर तरह के हितों का बलिदान कर देगी।"

किसानों के साथ हमारे उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सरोकार ने हमें उनके सुख-दुःख के दृष्टिकोण से ज्यादा-से-ज्यादा सोचने को बाध्य किया। बारडोली, संयुक्त प्रांत और दूसरी-दूसरी जगहों में किसानों के आन्दोलन खड़े हुए। न चाहते हुए भी स्थानीय कांग्रेस कमेटियों को 'स्वार्थों के संघर्ष' की समस्या का मुकाबिला करना पड़ा और अपने किसान मेम्बरों को, कौन-सी कार्रवाई की जाय, इसका रास्ता भी बताना पड़ा। कुछ सूबों की सूबा-कमेटियों ने भी ऐसा ही किया।

सन् १९२९ के गर्मी के दिनों में खुद अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपनी बम्बई वाली बैठक में इस समस्या का हिम्मत के साथ मुकाबिला किया और इसके मुतल्लिक मुल्क को एक आदर्श नेतृत्व दिया। अपने राष्ट्रीय आधार के रहते और राजनैतिक स्वतंत्रता को महत्त्व देते हुए भी उसने जोरदार शब्दों में घोषित किया कि हमारे समाज का वर्तमान आर्थिक संगठन हमारी गरीबी के मूल कारणों में से एक है। उसका प्रस्ताव इस तरह का था:

"इस कमेटी की राय में भारतीय जनता की भयंकर गरीबी और दरिद्रता का कारण सिर्फ विदेशियों द्वारा उसका शोषण नहीं है; बल्कि हमारे समाज का आर्थिक संगठन भी है, जिसे कि विदेशी हुकूमत कायम रखे हुए है ताकि यह शोषण जारी रहे। इसलिए इस गरीबी और दरिद्रता को दूर करने, साथ ही भारतीय जनता की दुरवस्था को सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि समाज के वर्त्तमान आर्थिक और सामाजिक संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जाय और घोर विषमता हटाई जाय।"

'क्रान्तिकारी परिवर्तन' ये शब्द जब मैंने, थोड़े दिन हुए, लखनऊ शहर में इस्तेमाल करने का साहस किया तो कुछ लोगों ने समझा कि कांग्रेस के प्लेटफार्म के लिए ये बिलकुल नये हैं। कांग्रेस के इस दृष्टि-बिन्दु और नीति की आम घोषणा से आगे शायद ही कोई समाजवादी जा सकता है। इस पर भी यह कहना कि कांग्रेस समाजवादी हो गई है, कैसी मूर्खता है। उसने भारतीय जनता को गरीबी और दरिद्रता से ज्यादा-से-ज्यादा सम्बन्ध बढ़ाती हुई देख कर महसूस किया है कि सिर्फ राजनैतिक तबादला ही काफी नहीं है, कुछ और आगे भी जाने की जरूरत है। वह 'कुछ और' मौजूदा आर्थिक और सामाजिक संगठन में परिवर्तन—क्रान्तिकारी परिवर्तन—ही है। यह परिवर्तन कैसा होगा, यह इसने नहीं बताया, और उस वक्त यह स्वाभाविक ही था। इसलिए हमने इसे अनिश्चित और अस्पष्ट ही रख छोड़ा।

कानून-भंग शुरू हुआ। यह राजनैतिक उद्देश्य से एक राजनैतिक आन्दोलन था। हमने देखा, स्वार्थों की मुठभेड़ फिर सामने आई और बड़े-बड़े जमींदारों और पूंजीपतियों ने आनेवाले परिवर्तन से डरकर अंग्रेजी सरकार का साथ दिया। संयुक्त प्रान्त-जैसे कुछ सूबों में तो किसान-आंदोलन के सबब से स्वार्थों की मुठभेड़ ज्यादा स्पष्ट थी।

करांची में तो हमारा रास्ता आर्थिक परिवर्तन की तरफ मुड़ा हुआ साफ दीख पड़ा। कांग्रेस इतनी दूर जाने में हिचकिचाती थी; लेकिन वह अपने को रोक नहीं सकी। उसने फिर ऐलान किया :

"जनता के शोषण का अन्त करने के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता का अंग होगा भूख से मरते हुए करोड़ों किसान-मजदूरों की सच्ची आर्थिक स्वतन्त्रता।" इसने 'गुजारे की मजदूरी' ('लिविंग वेज') जैसी चीजों की चर्चा की और ऐलान किया कि राज्य (सरकार) बड़े-बड़े कल-कारखानों, खानों, रेलवे और जहाज आदि का मालिक खुद होगा या उनका इंतजाम करेगा। यह एक समाजवादी प्रस्ताव था, फिर भी कांग्रेस समाजवाद से दूर रही।

इस तरह कांग्रेस घटनाओं के जोर और असलियत के दबाव से आर्थिक पहलू की तरफ बढ़ने को बाध्य हुई। राजनैतिक आजादी के लिए बड़ी इच्छा रखते हुए भी वह इसे आर्थिक आजादी से जुदा न कर सकी। ये दोनों एक-दूसरे से ऐसे बंधे हुए हैं कि अलग नहीं हो सकते। हमने उन्हें अलग-अलग रखने की और राजनैतिक स्वतन्त्रता पर ही सारी ताकत लगाने की कोशिश की; लेकिन आर्थिक समस्याओं ने इसमें दखल दिया। स्वार्थों के संघर्ष की तरफ से हमने आंखें बन्द कर लीं, फिर भी राजनैतिक सतह पर भी, ये संघर्ष ज्यादा साफ नजर आते गए। गोलमेज कांफ्रेंस ने अच्छा नजारा पेश किया। सभी भारतीय पूंजीवादी ब्रिटिश साम्राज्यशाही के नीचे एक पंक्ति में खड़े हो गये और भारतीय स्वतन्त्रता के लिए अपने को बलिदान करनेवाली ताकत का एक स्वर में विरोध करने लगे।

कोई बात ज्यादा दिन तक याद नहीं रहा करती। बहुत से लोग भारत और कांग्रेस का यह आधुनिक इतिहास भूल जाते हैं। कांग्रेस में समाजवाद या समाज की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन जैसे शब्द ऐसे नये नहीं हैं जो पहले कभी सुने नहीं गये हों। स्वार्थों का संघर्ष भी कोई नई चीज नहीं है। फिर भी यह एकदम सच है कि कांग्रेस आज समाजवादी नहीं है। समाजवादी है या नहीं, इसे जाने दीजिए; पर इतना तो जरूर है और बहुत साफ है कि यह पहले से ही ऐसी संस्था नहीं है जो आर्थिक बातों की अवहेलना कर के सिर्फ राजनैतिक पहलू पर ही सोचे। इन पंक्तियों के लिखते समय

किसानों की तकलीफों की जांच करना और उनके लिए कोई कार्यक्रम निश्चित करना इसके प्रमुख कामों में से एक है। इसे इसका और दूसरी समस्याओं का मुकाबिला करना ही होगा। और ऐसा करने में जब कभी स्वार्थों की मुठभेड़ सामने आयगी, जैसी कि हमेशा आया करती है, तो जनता के हितों के आगे उन सबका बलिदान किया जायगा।

समाजवादी दृष्टिकोण सियासी कशमकश में मदद पहुंचाता है। यह हमारे सामने की बातों को साफ कर देता है और हमें अनुभव कराता है कि सच्ची राजनैतिक स्वतंत्रता में—सामाजिक जाने दीजिए—क्या-क्या बातें होंगीं।

इसके अलावा समाजवादी दृष्टिकोण (जैसा कि पिछले पन्द्रह सालों से कांग्रेस भिन्न-भिन्न रूपों में करती आ रही है) जोर देता है कि हमें जनता के लिए खड़ा होना चाहिए और हमारी लड़ाई जनता की होनी चाहिए। आजादी के माने होना चाहिए जनता के शोषण का अन्त।

इससे हम समझ सकते हैं कि किस किस्म के स्वराज्य के लिए हम प्रयत्न कर रहे हैं। क्या अंग्रेजों के बाद मौजूदा पूंजीपतियों के ही हाथों में मुल्क का भावी शासन-सूत्र जायगा ? स्पष्टतः यह कांग्रेस की नीति नहीं हो सकती है; क्योंकि हमने अक्सर यह ऐलान किया है कि हम जनता के शोषण के विरुद्ध हैं। इसलिए हमें बाध्य होकर जनता को शक्तिशाली बनाने का उद्योग करना चाहिए, ताकि भारत से साम्राज्यशाही का अन्त होते ही वह सफलतापूर्वक अपने हाथों में हुकूमत रख सके।

जनता को और उसके जरिये कांग्रेस-संगठन को मजबूत बनाना अपने उद्देश्य के लिए ही जरूरी नहीं है, बल्कि लड़ाई के लिए भी जरूरी है। सिर्फ जनता ही उस लड़ाई को सच्ची ताकत दे सकती है, सिर्फ वही राजनैतिक लड़ाई को आखिर तक लड़ सकती है।

इस तरह समाजवादी दृष्टिकोण हमारी मौजूदा लड़ाई में हमें मदद देता है। यह बेकार किताबी बातों की बहस बढ़ाने और उलझनों-से भरे

हुए सुदूर भविष्य का सवाल नहीं है, बल्कि अपनी नीति को अभी निश्चित कर लेने का प्रश्न है, ताकि हम अपने राजनैतिक संग्राम को अधिक शक्तिशाली और पुरअसर बना सकें। यह समाजवाद नहीं है। यह साम्राज्यवाद-विरोधी बात है। समाजवादी दृष्टिकोण से देखा गया राजनैतिक पहलू है।

समाजवाद इससे और आगे जाता है। उसका ध्येय है पूंजीवाद की लाश पर समाज का निर्माण। यह आज मुमकिन नहीं है। इसलिए कुछ लोगों का खयाल है कि इस पर सोचना बेमौके और सिर्फ ज्ञान-वर्धन की बात होगी। लेकिन यह दोषपूर्ण है, क्योंकि ध्येय का स्पष्टीकरण—भले ही उसका हम निश्चय न करें—और उस पर सोचना आगे बढ़ने में मदद करता है। राजनैतिक स्वतन्त्रता हासिल होने के बाद शासन किसके हाथों में आयगा? इसपर विचार करना जरूरी है; क्योंकि सामाजिक परिवर्तन इसी पर निर्भर करेगा। और, अगर हम सामाजिक परिवर्तन चाहते हैं तो उन्हीं को यह 'शासन' कार्यरूप में लाने के लिए मिलना चाहिए। अगर हमारा उद्देश्य यह नहीं है तो इसका मतलब यह होता है कि हमारा संग्राम 'अपरिवर्तनवादी' पूंजीपतियों का मार्ग निष्कंटक बनाने के लिए है।

समाजवादी तरीका मार्क्सवादी तरीका है। यह भूत और वर्तमान इतिहास का अध्ययन करने का तरीका है। मार्क्स की महत्ता आज कोई अस्वीकार नहीं करेगा; लेकिन बहुत कम आदमी अनुभव करेंगे कि उसने घटनाओं का जैसा मतलब लगाया है उससे इतिहास का लम्बा और थकाऊ मार्ग प्रकाशमय हो गया है। यह कोई आकस्मिक और चमत्कारपूर्ण नई बात नहीं थी। इसकी जड़ें भूतकाल में ही गहराई तक चली गई थीं। यह पुराने ग्रीकों, रोमनों तथा रिनेसां (जागृति) के और उसके आगे के विचारकों को मालूम था। उन्होंने इतिहास को आन्दोलन के रूप में समझा और समझा विचारों तथा स्वार्थों के संघर्ष के रूप में। मार्क्स ने इस पुराने दर्शन (फिलासफी) को विज्ञान का आधार दे कर विकसित किया और दुनिया के आगे ऐसे सुन्दर ढंग से रक्खा कि लोग मुग्ध हो गए। हो सकता है कि इसमें कोई

गलती हो या इधर-उधर कुछ बातों पर ज्यादा जोर डाला गया हो। तयशुदा सिद्धान्तों के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन और इतिहास समझने के एक नए वैज्ञानिक ढंग के रूप में हमें इसे देखना चाहिए। इस व्यर्थ बात को तूल दे कर कहा जाता है कि मार्क्स ने जीवन के आर्थिक पहलू को ही अधिक महत्व दिया है। उसने ऐसा जरूर किया है, क्योंकि यह आवश्यक था और लोग इसे भुला देने की तरफ झुक रहे थे, लेकिन उसने दूसरे पहलुओं की कभी अवहेलना नहीं की है और उन ताकतों पर ज्यादा जोर दिया है जिनकी वजह से लोगों में जान आ गई है और घटनाओं को रूप मिला है।'

मार्क्स एक ऐसा नाम है, जो उसके बारे में कम जानने वालों को भयभीत कर देता है। उनके लिए इस सम्बन्ध में एक बहुत आदरणीय और सम्मानित ब्रिटिश लिबरल ने, जो हर्गिज क्रान्तिकारी नहीं हैं, थोड़े दिन पहले जो-कुछ कहा है, वह दिलचस्प हो सकता है। जून १९३१ में लार्ड लोथियन ने लंदन-स्कूल आव इकनामिक्स के सालाना जलसे के मौके पर अपने भाषण में कहा था :

"हम लोग बहुत दिन से जो सोचने के आदी हो गए हैं, क्या उसकी अपेक्षा मौजूदा समाज की बुराइयों की मार्क्स द्वारा की गई तजवीज में कुछ ज्यादा सचाई नहीं है ? मैं मानता हूं कि मार्क्स और लेनिन की भविष्यवाणियां अत्यन्त कठोर रूप में सच हो रही हैं। जब हम पश्चिमी दुनिया की तरफ, जैसी की वह है, और उसकी हमेशा की तकलीफों की ओर निगाह डालते हैं, तो क्या यह साफ मालूम नहीं देता कि हमें उसके मूल कारणों को—अबतक हम जिस हद तक पहुंचने के आदी हो गए हैं उससे कहीं अधिक गहराई के साथ—जरूर ढूंढ़ निकालना चाहिए ? और जब हम ऐसा करेंगे, हम देखेंगे कि मार्क्स की तजवीज बहुत कुछ सही है।"

ऐसे व्यक्ति का, जो हिन्दुस्तान का वाइसराय आसानी से हो सकता है, ऊपर लिखी बातों को स्वीकार कर लेना कुछ महत्त्व रखता है। अपने वातावरण के दबाव और अपनी श्रेणी की द्वेष-भावना के होते हुए भी उसकी

तीव्र बुद्धि मार्क्स की तजवीज की तरफ खिंचे विना न रह सकी। हो सकता है, पिछले सालों में लार्ड लोथियन के विचार बदल गए हों। मैं नहीं कह सकता, १९३१ में उन्होंने जो कुछ कहा उसपर किस हद तक वह आज कायम हैं। लेकिन आज मार्क्स का सिद्धान्त कांग्रेस के सामने नहीं है। उसके सामने बात तो यह है कि या तो हम फैली हुई बुराइयों से लड़ें या उनके कारणों को ढूंढ़ निकालें। जो लोग बुराइयों के खुद शिकार हैं, वे ज्यादा कर क्या सकते हैं? उन्हें याद रखना चाहिए, वे कुपरिणामों से लड़ते हैं, उनके कारणों से नहीं। वे अन्तर्मुखी आन्दोलन को रोकते हैं, उसके रुख को नहीं बदलते, वे मर्ज को दबाते हैं, दूर नहीं करते।"

वास्तविक समस्या है—परिणाम या कारण। अगर हम कारण ढूंढ़ना चाहते हैं, जैसा कि हमें जरूर चाहिए, तो समाजवादी विश्लेषण उसपर प्रकाश डालेगा। और इस तरह समाजवाद, हालांकि समाजवादी शासन—स्टेट—सुदूर भविष्य का एक सपना हो सकता है और हममें से वहुतेरे उसे भोगने के लिए जिन्दा नहीं रह सकते, वर्तमान समय में खतरे से वचाने वाला प्रकाश है, जो हमारे पथ को आलोकित करता है।

समाजवादी ऐसा ही अनुभव करते हैं, लेकिन उन्हें यह जानना जरूरी है कि वहुतेरे दूसरे लोग, मौजूदा संग्राम के उनके साथी, ऐसा नहीं सोचते। उन्हें अपने को ज्यादा अक्लमन्द समझकर—जैसा कि कुछ समझते हैं—अपना अलहदा गिरोह नहीं वना लेना चाहिए। वे दूसरे तरीकों से अपना काम निकाल सकते हैं और उनके दूसरे साथी और वहुत अंशों में समूचा देश उनके तरीके से सोचने को जीते जा सकते हैं; क्योंकि हम भले ही समाजवाद के वारे में सहमत या असहमत हों, पर स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर तो एक साथ कूच करते हैं।

१५ जुलाई, १९३६

: १६ :

किसान-मजदूर संस्थाएं और कांग्रेस

मेरे पास विभिन्न कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेसमैनों के अनेक पत्र आये हैं, जिनमें यह पूछा गया है कि कांग्रेसमैनों का किसान-मजदूर संस्थाओं के प्रति क्या कर्त्तव्य है? इस प्रकार से संघ बनाने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए या नहीं? यदि उनको बनाने दिया जाय तो उनका कांग्रेस से क्या सम्बन्ध हो? कई प्रान्तों में ये समस्याएं पैदा हो गई हैं, इनपर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए। कभी-कभी ये समस्याएं पूर्णतया व्यक्तिगत, कभी-कभी प्रान्तीय होती हैं; किन्तु इनके पीछे महत्त्वपूर्ण बातें छिपी होती हैं। स्थानीय समस्याएं जब हमारे सामने आती हैं तो उनके विशेष अंगों तथा उनके साथ जिन व्यक्तियों का सम्बन्ध है, उनके बारे में भी विचार करना आवश्यक होता है। इसके साथ ही हमें इन मामलों की तह में जाने के पहले सिद्धान्तों और मुख्य समस्याओं को पूरी तरह से ध्यान में रखना चाहिए।

ये समस्याएं क्यों पैदा हुई? ये कुछ व्यक्तियों के प्रश्न से पैदा नहीं हुईं; बल्कि उस हलचल का परिणाम हैं जिसमें हम फंसे हुए हैं। यह इस बात का चिह्न है कि जनसाधारण में जागृति पैदा हो रही है और हमारा आन्दोलन जड़ पकड़ता जा रहा है। ये जागृति के आन्दोलन से ही पैदा हुई हैं, अतः इसका श्रेय भी कांग्रेस को ही मिलना चाहिए। कांग्रेस ने इसके लिए लगातार कोशिश की है। इसलिए अगर कामयाबी मिलती है तो कांग्रेसमैनों को उसे अपनाने में संकोच नहीं करना चाहिए। इस आन्दोलन के साथ कभी-कभी हमारे सामने कठिनाइयां आ जाती हैं, फिर भी इसका हमें स्वागत करना ही चाहिए।

ऐसी स्थिति कुदरतन ही थोड़ी-बहुत विषम होती है। कांग्रेस ही देश की एकमात्र राजनैतिक प्रतिनिधि संस्था है। किसान या मजदूर-संस्थाएं तो वर्ग-विशेष की संस्थाएं हैं। वे केवल अपने वर्ग की

उन्नति चाहती हैं। कांग्रेस राजनैतिक बातों को लेकर लड़ती है। श्रमजीवियों की संस्था क्रियाशील और आर्थिक दर्जे पर लड़ती है। दोनों की प्रगति में कोई विशेष भेद नहीं होता। साथ ही हमारी जद्दो-जहद बढ़ने के साथ-साथ राजनैतिक जागृति पैदा होती जाती है, इससे दोनों की प्रगति, बहुत-दूर तक, एक ही-सी रहती है। कांग्रेस का जन-साधारण से सम्पर्क है और कांग्रेस जन-साधारण की सबसे बड़ी संस्था है, इसलिए जनता की यानी श्रमजीवियों, किसानों और दूसरों की आर्थिक मांगों के लिए जद्दो-जहद करना जरूरी है। किसान और मजदूर-संस्थाएं भी इसके अलावा और कुछ नहीं करतीं। कांग्रेस और मजदूर-संस्थाओं को यह समझना होगा कि आर्थिक कठिनाइयां तबतक हल नहीं हो सकतीं जबतक राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होकर जन-साधारण के हाथों में सत्ता न आ जाय। इस तरह से दोनों में सामंजस्य हो जायगा और साम्राज्यवाद के खिलाफ संयुक्त मोरचा कायम किया जा सकेगा।

हरेक गुलाम देश में राजनैतिक समस्या ही सर्वोपरि होती है। इस कारण कांग्रेस स्वयं ही देश की सर्वोपरि संस्था हो जायगी; किन्तु गत वर्षों की आजादी की जद्दो-जहद के कारण कांग्रेस को यह स्थान पहले ही प्राप्त हो चुका है। आज कांग्रेस अत्यन्त शक्तिशाली हो गई है। उसे जन-साधारण का समर्थन प्राप्त है तथा किसान और मजदूर भी अपने संघों की अपेक्षा उससे ही अधिक प्रभावित होते हैं। कांग्रेस को यह शक्ति केवल अपने राजनैतिक कार्यक्रम की वजह से नहीं मिली; किन्तु उसने जनता की सेवा की, त्याग किया तथा उससे अपना सम्पर्क स्थापित किया। जन-साधारण पूरी तरह समझ गए हैं कि कांग्रेस उनकी आर्थिक तंगी को दूर करना चाहती है। देश के कई स्थानों में कांग्रेस के शक्तिशाली होने का मुख्य कारण यही है।

आर्थिक और राजनैतिक दृष्टिकोण से देखने से पता चलता है कि कांग्रेस को शक्तिशाली बनाना बेहद जरूरी है। जिस काम से वह कमजोर

पड़ती है, उससे आजादी की जद्दो-जहद ही कमजोर नहीं पड़ती, बल्कि किसान और मजदूर-आन्दोलन को भी हानि पहुंचती है। अभी किसान और मजदूर आन्दोलन इतना शक्तिशाली नहीं है कि बिना कांग्रेस के चल सके। इसी तरह से देश की समस्त संस्थाएं आज यह कह रही हैं कि कांग्रेस के नेतृत्व में साम्राज्य-विरोधी मोरचा स्थापित किया जाय। कांग्रेस स्वयं ही संयुक्त मोरचा स्थापित करने पर जोर दे रही है।

इन बातों के अलावा कांग्रेस को राष्ट्रीय संस्था ही रहना है, इसलिए यह सदा मजदूरों, किसानों तथा अन्य वर्गों की मांगों के लिए प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। यह मजदूर-संघ या किसान-सभा की तरह का कार्य नहीं कर सकती। जहां इसका किसानों से बहुत अधिक सम्बन्ध है वहां यह किसान-सभा की तरह काम करती है। कांग्रेस की नीति देश-व्यापी किसान-आन्दोलन आरम्भ करने की है और यह सदा ही रहेगी। इसके साथ-ही-साथ जबतक कांग्रेस राष्ट्रीय कांग्रेस रहेगी और उसमें एकदम कोई तब्दीली नहीं होगी, तबतक नेतृत्व विशेषतया निम्न मध्य श्रेणी के हाथों में ही रहेगा।

ये तो भविष्य की बातें हैं। हमारा सम्बन्ध तो मौजूदा स्थिति से है। इस समय सामने दो समस्याएं हैं: (१) कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो हमें हमारे उद्देश्य तक पहुंचा सकती है, अतः इसको शक्तिशाली बनाना चाहिए, और (२) जन-साधारण में बढ़ती हुई जागृति। यदि इन बातों में एकता हो जाय तो आन्दोलन मजबूत हो जायगा और उद्देश्य की पूर्ति भी हो जायगी। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए जन-साधारण से सम्पर्क बढ़ाने पर जोर दिया जा रहा है। यह बात हिन्दू, सिख, मुसलमान और ईसाई जन-साधारण पर भी लागू होती है। साम्प्रदायिक मतभेद का इस कार्यक्रम पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। हम मुस्लिम जन-सम्पर्क की बात कहते हैं; किन्तु यह बात कोई साम्प्रदायिक आन्दोलन नहीं है जिससे मुसलमानों का ही सम्बन्ध हो। हमारा कार्यक्रम हिन्दू-मुसलमानों तथा अन्य सम्प्रदायों के लिए एकता ही है। मुसलमानों में

कार्य करने के लिए कार्यकर्ताओं का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही हम 'मुस्लिम जन-सम्पर्क' शब्द का प्रयोग करते हैं।

जन-साधारण से दो प्रकार से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। एक तरीका तो यह है कि हम उन्हें कांग्रेस का सदस्य बनावें और ग्राम-कमेटियों की स्थापना करें। दूसरा यह है कि किसान और मजदूर-संघों से सम्बन्ध स्थापित करें। हमारे लिए पहला मार्ग ही उचित है। बिना पहले मार्ग को ग्रहण किए दूसरे पर चला ही नहीं जा सकता; क्योंकि दूसरा पहले से सम्बन्धित है। यदि कांग्रेस का जन-साधारण से सम्पर्क नहीं होगा तो उसपर मध्यम श्रेणी का प्रभाव होना अनिवार्य है। इस प्रकार वह अपना दृष्टिकोण जन-साधारण का दृष्टिकोण न रख सकेगी। अतः प्रत्येक कांग्रेसमैन का, विशेषतया उसका जो किसान-मजदूरों के हितों को अधिक प्रिय समझता है, कर्त्तव्य है कि वह उन्हें कांग्रेस के सदस्य बनाकर ग्राम-कमेटियां स्थापित करे।

कुछ दिन हुए इस बात पर विचार किया गया था कि किसान और मजदूर-संघों का कांग्रेस से सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय और इसके लिए उन्हें कांग्रेस में प्रतिनिधित्व दे दिया जाय। इसपर आज भी विचार हो रहा है। इसके लिए कांग्रेस के विधान में परिवर्तन करना होगा। मैं नहीं जानता कि परिवर्तन हो सकता है या नहीं और अगर हो सकेगा तो कब? व्यक्तिगत रूप से मैं इस बात को मान लेने के पक्ष में हूं। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने जिस बात की सिफारिश की है उसपर धीरे-धीरे अमल होना चाहिए। शुरू में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होगा; क्योंकि ऐसे संघ, जो अच्छी तरह से संगठित हैं, बहुत कम हैं। साथ ही उन्हें अपने से सम्बन्धित करने के लिए कांग्रेस कुछ शर्तें भी रख देगी। इस समय तो यह सवाल ही पैदा नहीं होता; क्योंकि कांग्रेस-विधान में इसके लिए स्थान ही नहीं है। यह बहस का सवाल है, इसलिए इस समय हमें इधर अधिक ध्यान नहीं देना है। जो व्यक्ति इस प्रकार के परिवर्तन के पक्ष में हैं, उन्हें जानना चाहिए कि परिवर्तन के लिए वे कांग्रेस के बाहर रहते हुए अधिक जोर

नहीं डाल सकते। उन्हें इसके लिए मजदूरों और किसानों को अधिक संख्या में कांग्रेस का सदस्य बनाना पड़ेगा। यदि कांग्रेस के बाहर की संस्थाओं में इतनी शक्ति हो जायगी कि वे कांग्रेस को किसी बात के लिए विवश कर दें तो इसका अर्थ होगा कि उनकी कांग्रेस से अधिक शक्ति है। ऐसी दशा में तो उन्हें कांग्रेस से सम्बन्धित होने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी; किन्तु ऐसा होना मुमकिन नहीं।

यह सब ठीक है; पर इस समय हमें इससे कुछ नहीं लेना। स्थानीय कांग्रेस-कमेटियों और किसान-मजदूर संस्थाओं में सहयोग की भावना बढ़ती जा रही है। कहीं-कहीं दोनों की बेजाब्ता कमेटियां भी बनी हुई हैं। अधिकतर इनमें काम करने वाले भी कांग्रेस-कार्यकर्त्ता ही होते हैं। इसलिए दोनों के सहयोग में कोई कठिनाई नहीं है। यह बात दोनों में है; किन्तु इसके अलावा चारों ओर इस बात पर भी जोर दिया जा रहा है कि दोनों में सहयोग होना चाहिए और यह है भी बहुत जरूरी।

किसानों और मजदूरों को कांग्रेस का सदस्य बनाने के बारे में ऊपर विस्तार-पूर्वक विवेचना कर ली गई है। अब हमें यह भी विचार करना चाहिए कि मजदूरों और किसानों का स्वतन्त्र संगठन होना चाहिए या नहीं। इस बात में तनिक भी संदेह नहीं कि किसानों और मजदूरों को अपना संगठन करने का अधिकार पुश्तैनी है। यह एक प्रकार का मौलिक अधिकार है, जिसे कांग्रेस सदा स्वीकार करती रही है। इस सम्बन्ध में किसी भी दलील की आवश्यकता नहीं। इतना ही नहीं; बल्कि कांग्रेस तो एक कदम और आगे बढ़ गई है। उसने सैद्धान्तिक रूप में ऐसी संस्थाएं स्थापित करने का आश्वासन दिया है।

श्रमजीवी मजदूरों का मामला तो किसानों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। मेरी धारणा है कि जो व्यक्ति मजदूर-आन्दोलन में दिलचस्पी रखता है, उसे यह मानना पड़ेगा कि मजदूरों का अपने को संगठित करना मुख्य कर्त्तव्य है। मजदूर-आन्दोलन वर्तमान उद्योग-धन्धों का अनिवार्य हिस्सा है। उद्योग-धंधे जितने बढ़ेंगे उतना ही यह आन्दोलन भी बढ़ेगा। कांग्रेस जन-

साधारण से सम्पर्क रखने के कारण मजदूर-संघों का कार्य नहीं कर सकती। समय-समय पर मजदूरों की जो समस्याएं और झगड़े उठते हैं, उनका मजदूर-संघ ही निपटारा कर सकते हैं। इसलिए कांग्रेसमैनों को मजदूर-संघों के बनाने में सहायता देनी चाहिए, और जहांतक हो सके, वे दैनिक झगड़ों में भी मजदूरों की सहायता करें। स्थानीय कांग्रेस-कमेटी और मजदूर-संघ को सहयोगपूर्वक कार्य करना चाहिए। मैं मानता हूं कि मजदूर-संघ कांग्रेस के अधीन नहीं हैं और न उसके नियन्त्रण में ही हैं; किन्तु उन्हें यह मानना चाहिए कि राजनैतिक मामलों में कांग्रेस ही नेतृत्व स्वीकार करे। आर्थिक मामलों में तथा मजदूरों की अन्य शिकायतों के सम्बन्ध में मजदूर-संघ अपना जो चाहें सो कार्यक्रम रख सकते हैं, चाहे वह कांग्रेस के कार्यक्रम की अपेक्षा अधिक अग्रगामी हो। कांग्रेसमैन भी व्यक्तिगत रूप से मजदूर-संघों के सदस्य या सहायक हो सकते हैं। इस प्रकार वे उन्हें परामर्श भी दे सकते हैं। किसी कांग्रेस-कमेटी को मजदूर-संघ पर नियन्त्रण रखने का यत्न नहीं करना चाहिए।

शहरों के तांगेवाले, ठेलेवाले, इक्केवाले, मल्लाह, पत्थर तोड़नेवाले, मामूली क्लर्क, प्रेस-कर्मचारी, भंगी इत्यादि को भी अलग-अलग अपने संघ बनाने का पूर्ण अधिकार है। इन्हें कांग्रेस का सदस्य भी बनाया जा सकता है; किन्तु कुछ इनकी अपनी समस्याएं भी हैं तथा संगठन से ये शक्तिशाली भी होते हैं और इनमें आत्म-विश्वास भी पैदा होता है। बाद में ये कांग्रेस में भी आसानी से कार्य कर सकेंगे। इसका सीधा अर्थ यह होगा कि कांग्रेसमैन इनके सीधे सम्पर्क में हैं और आवश्यकता पड़ने पर इनको सहायता भी देते हैं।

नगरों में जो अर्द्धमजदूर सभाएं और संस्थाएं बनती हैं, वे सफल नहीं होतीं; क्योंकि उनके हितों में सामंजस्य नहीं होता। उनके कांग्रेस में आने से ही सहयोग पैदा हो सकता है।

किसानों की अहम समस्या रह जाती है। उनकी समस्या हमारी तमाम समस्याओं की बनिस्बत जरूरी है। किसान-वर्ग में मैं किसानों की भांति

पंजाव तथा अन्य प्रान्तों के छोटे-छोटे जमींदारों, युक्तप्रान्त और विहार के किसानों व बंगाल और उड़ीसा के कृषकों को भी समझता हूं। इन सबपर एक ही व्यवहार लागू नहीं हो सकता। उसमें भिन्नता होगी। इस समय तो मैं कांग्रेस के साथ संस्थाओं के सम्बन्ध पर विचार कर रहा हूं।

कांग्रेस ने किसानों के संगठन को अधिकारपूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। सैद्धान्तिक रूप से मैंने जो विचार मजदूर-संघों के प्रति प्रकट किये हैं, वे उनपर भी लागू होते हैं, किन्तु उनमें फर्क भी है। कारखानों इत्यादि में काम करने वाले मजदूरों को संगठित करना सुगम है; क्योंकि वे एक साथ रहते हैं और कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर काम करते हैं और उनकी कठिनाइयां भी करीव-करीव एक-सी ही होती हैं। किसानों का संगठन करना उनकी वनिस्वत ज्यादा मुश्किल है; क्योंकि वे विखरे रहते हैं और वे सामूहिक दृष्टि से नहीं सोचते; वल्कि व्यक्तिगत हितों को सामने रख कर ही सोचते हैं। कांग्रेस का कार्य करते समय हमें इन कठिनाइयों का अनुभव हो चुका है और हमने देखा है कि यद्यपि किसानों पर कांग्रेस का ज्यादा-से ज्यादा असर है, किन्तु उनमें से कांग्रेस के सदस्य वहुत कम हैं। करोड़ों किसान कांग्रेस पर श्रद्धा रखते हैं; किन्तु सदस्य इसकी वनिस्वत वहुत ही थोड़े हैं।

जिन गांवों में कांग्रेस-कमेटियां जोरों से काम कर रही हैं, वहां किसान-संघ बनाने से कोई लाभ नहीं; क्योंकि इससे शक्ति का अपव्यय होगा और दोहरा प्रयत्न भी करना पड़ेगा। ग्रामीण कांग्रेस को ही अपनी संस्था समझते हैं। हमने देखा है, कई स्थानों में किसान-आन्दोलन शक्तिशाली होते हुए भी वहां किसान-संघों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई। जिन गांवों में कांग्रेस-कमेटियां ठीक तरह कार्य नहीं कर रही हैं, वहां देर या जल्दी से किसान-संस्थाएं जरूर उनकी पूर्ति करेंगीं। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि किसानों में जागृति पैदा हो रही है और उनमें यह भावना आती जा रही है कि उन्हें इस असह्य दशा से अपना छुटकारा करना चाहिए। यद्यपि इस जागृति का मुख्य कारण आर्थिक तंगी है; किन्तु

कांग्रेस के नेतृत्व में आजादी की जद्दो-जहद से भी उन्हें प्रोत्साहन मिला है और उन्हें बहुत-सी ऐसी बातों का ज्ञान हो गया है जिन्हें वे आज तक निर्जीव प्राणी के समान सहन कर रहे थे। उन्हें संगठन की अहमियत तथा सामूहिक कार्यों की ताकत का भी पता चल गया है। इसलिए वे इंतजार में हैं। अगर कांग्रेस उनकी ओर आकर्षित न हुई तो कोई और संस्था उस ओर जायगी और वे उसका साथ देंगे। लेकिन वही संस्था उनके हृदय में स्थान प्राप्त कर सकती है जो उनकी मुसीबतों को दूर करने का मार्ग उन्हें दिखायगी।

हम देख रहे हैं कि आज ऐसे आदमी भी किसानों का दुःख दूर करने और उन्हें आर्थिक तंगी से मुक्त करने की बात कह रहे हैं जिन्होंने इससे पूर्व कभी भी किसानों की ओर ध्यान नहीं दिया होगा। राजनैतिक प्रतिगामी भी आज किसान-कार्यक्रम की बातें कर रहे हैं। राजनैतिक प्रतिगामियों ने कभी उनको न लाभ पहुंचाया और न पहुंचा सकते हैं, लेकिन इससे हमें यह साफ तौर से मालूम हो जाता है कि आज हवा का रुख किस ओर है। अब हमें गांवों के उन झोंपड़ों की ओर ध्यान देना चाहिए जिनमें हमारे मुसीबतजदा किसान भाई रहते हैं। यदि उनके दुःख दूर न किये गए तो एकदम उथल-पुथल मच जायगी। भारत की सबसे बड़ी समस्या किसानों की समस्या है।

कांग्रेस ने पूरी तरह से इस बात को महसूस कर लिया है। इसलिए राजनैतिक कामों में लगे रहने के बावजूद कांग्रेस ने किसान-कार्यक्रम तैयार किया है। हालांकि यह कार्यक्रम उनके दुःखों को पूरी तरह खत्म नहीं कर सकता, फिर भी उससे उनका बोझ कुछ तो हलका होगा। मेरी समझ में कांग्रेस द्वारा तैयार किया गया किसान-कार्यक्रम किसान-संघों द्वारा तैयार किये गए कार्य-क्रम से बहुत भिन्न नहीं है। पर केवल कार्यक्रम तैयार करना ही काफी नहीं है। किसानों में हमें उस कार्यक्रम को फैलाना चाहिए। उसके आधार पर ही हमें अपनी योजनाएं बनानी होंगीं। भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न योजनाएं बनेंगीं। प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटियों तथा

धारा-सभाओं की कांग्रेस-पार्टियों को योजनाएं बनानी चाहिए। हम इस कार्यक्रम को इस समय चाहे अमल में न ला सकें; लेकिन समय आने पर उसे अमल में लाने के लिए हमें तैयार रहना चाहिए।

दूसरे देशों में भी ऐसा ही हुआ है। इसलिए यहां भी किसान-संघों का बनाना जरूरी है।

यह बहुत आवश्यक है कि किसान-संघों और कांग्रेस में आपस में लड़ाई न हो। यह दोनों के लिए ही, विशेषतया किसान-संघों के लिए, घातक होगा। यदि ग्रामीण अधिक संख्या में कांग्रेस के सदस्य होंगे तथा प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्त्ता उनके कार्य में दिलचस्पी लेंगे तो आपस में झगड़े की भावना आ ही नहीं सकती और एक प्रकार से वे कांग्रेस का ही एक अंग हो जायंगे।

इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाइयां भी पड़ेंगीं और कभी-कभी मतभेद हो जाने का भी डर होगा। हमें इसका सामना करना होगा। हमारी राजनैतिक समस्याएं जितनी वास्तविक होती जाती हैं, उतना ही उनका सम्बन्ध हमारी दैनिक समस्याओं से होता जाता है। समस्याओं का रूप नित्य बदलता रहता है। उनमें विषमता भी उत्पन्न होती रहती है। जीवन ही विषम है, हमें किसी-न-किसी प्रकार इन्हें सुलझाना होगा।

जो बात सैद्धान्तिक रूप से ठीक होती है, वह सदा काम में लाने पर ठीक उतरती हो, ऐसा नहीं है। किसान-संस्थाओं के प्लेटफार्म का उपयोग कभी-कभी कांग्रेस के खिलाफ भी हो जाता है। प्रतिक्रियावादी भी उससे लाभ उठा लेते हैं और कभी-कभी स्थानीय कांग्रेस कमेटियों के पदाधिकारियों से असंतुष्ट होकर कुछ व्यक्ति इसका नाजायज फायदा उठाते हैं। कांग्रेस-द्रोही तथा वे व्यक्ति जिनपर अनुशासनात्मक कार्रवाई की गई है, इन्हें अपना अड्डा बना लेते हैं।

इस प्रकार की बातें सर्वथा आपत्तिजनक हैं। समस्त कांग्रेसमैनों को इसका विरोध करना चाहिए। इससे कांग्रेस के उद्देश्य को तो नुकसान नहीं पहुंचता; लेकिन किसानों में गोल-माल हो जाती है। राष्ट्रीय झण्डे का अपमान, चाहे कोई भी करे, सहन नहीं किया जा सकता। हमें लाल झण्डे

से कोई शिकायत नहीं। मैं उसकी इज्जत करता हूं। लाल झण्डा मजदूरों की जद्दो-जहद की निशानी है। लेकिन उसकी राष्ट्रीय झण्डे से होड़ लगाना ठीक नहीं है।

कांग्रेस पर किए जाने वाले आक्रमण को हम सहन नहीं कर सकते। जो व्यक्ति ऐसा करते हैं वे कांग्रेस को हानि पहुंचाते हैं। इससे मेरा यह मतलब नहीं कि कांग्रेस की आलोचना न की जाय। आलोचना करने की सबको स्वतन्त्रता है। किसी भी संस्था के जीवन की यह निशानी है। ऐसी घटनाएं मामूली तौर पर स्थानीय होती हैं और उन पर स्थानीय रूप से विचार होना चाहिए। अगर जरूरत मालूम पड़े तो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पास इसकी रिपोर्ट भेजी जा सकती है। यदि कोई कांग्रेसमैन बार-बार कांग्रेस पर छींटे डालने की कोशिश करता है और कांग्रेस की मर्यादा को हानि पहुंचाता है तो उसके मामले पर प्रान्तीय कमेटी में विचार होना चाहिए।

इस महान् समस्या को सुलझाने के लिए हमें किसानों से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। मेरा विचार है कि हमें किसान-सभाओं के साथ सहयोग कर दोस्ती का सम्बन्ध कायम करना चाहिए और हर तरह से कोशिश करनी चाहिए कि दोनों में आपस में झगड़ा न होने पावे। जिन उसूलों पर हमें चलना है, वे बिलकुल स्पष्ट हैं; लेकिन किसान भी उतने ही मुख्य हैं और अगर किसान ठीक-ठीक काम करते हैं तो मुसीबतें और झगड़े कम-से-कम होने चाहिए।

२८ जून, १९३७

: १७ :

मज़दूर और कांग्रेस

आज दुनिया जिस भारी सामाजिक और आर्थिक संकट में होकर गुजर रही है, उसमें मजदूरों के सामने बड़ा महत्त्वपूर्ण दायित्व है; क्योंकि अनिवार्य रूप से आदर्शवादी नेतृत्व का बोझ मजदूर के ही हाथ रहता है। दुनियाभर में मजदूरों और स्थापित स्वार्थों में भारी लड़ाई चल रही है, दाव ऊंचे लगे हैं और इसलिए हम अपनी राष्ट्रीय व सामाजिक लड़ाई में मामूली परिवर्तन कराकर ही समझौता नहीं कर सकते हैं। अगर हमें दुनिया की परिस्थिति से फायदा उठाना है तो हमें पक्का विचार कर लेना चाहिए कि शासन-पद्धति को एकदम पूरी तरह बदलने के लिए हम लड़ेंगे। और किसी से हमें संतोष न होगा, न और किसी से हमारी समस्याएं ही सुलझेंगी।

आज हिन्दुस्तान में विचारों की कुछ गड़बड़ी फैल रही है। हिन्दुस्तान के पुराने राष्ट्रवादी आदर्श दुनिया की मौजूदा हालतों से मेल नहीं खाते। इसलिए हिन्दुस्तान विचार करने का नया तरीका ग्रहण करने के लिए संघर्ष कर रहा है। यह प्राचीन को बदल कर नये पर आने की कोशिश बड़ा दुख दे रही है और गड़बड़ी पैदा कर रही है; लेकिन कोशिश जारी ही रहनी चाहिए; क्योंकि सिर्फ इसी तरह सामाजिक क्रान्ति के प्रगतिशील आदर्श को लेकर हिन्दुस्तान आजादी की ओर दुनिया की लड़ाई में अच्छी तरह हिस्सा ले सकता है।

ऐसी सामाजिक लड़ाई में मजदूर का ध्यान हमेशा प्रमुख रहा है। इसलिए हिन्दुस्तान के मजदूरों को अपनी सुस्ती छोड़कर उठ बैठना चाहिए और अपने साथियों को लेकर बहादुरी और विश्वास के साथ परिस्थिति का मुकाबिला करना चाहिए। अपने डरपोक रुख को और मामूली सुधार के लिए मांगों को छोड़ देना चाहिए और अहम मसलों में, जो हमारे और दुनिया के सामने हैं, हिस्सा लेना चाहिए। ऐसे अवसर कम ही आते

हैं। हिन्दुस्तानियों की आजादी के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन और सामाजिक और आर्थिक आन्दोलन को साथ मिलकर चलना चाहिए।

मजदूर उत्पादक मजदूर-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, यानी वह वर्ग जो भविष्य का आर्थिक और ऐतिहासिक रूप से बहुत ही महत्त्वपूर्ण वर्ग है। इसलिए मजदूर के लिए यह संभव है कि कांग्रेस की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विचार रखे। उसूलन मजदूर मुल्क का बहुत ही क्रान्तिकारी दल होता है; क्योंकि भविष्य की शक्तियों का वह प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन दूसरे विदेशी शासन के मातहत मुल्कों की तरह, हिन्दुस्तान म राष्ट्रीय समस्या सामाजिक समस्याओं को ढंक देती है और राष्ट्रवाद सामाजिक लड़ाई की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी है। फिर भी दुनिया की घटनाएं आर्थिक मसलों को आगे-से-आगे लाती जा रही हैं और राष्ट्रीय संस्थाएं भी इन्हीं मसलों से प्रभावित हो रही हैं।

मैं स्पष्ट रूप से देखता हूं कि मजदूरों को ट्रेड यूनियनों में या वैसे ही संघों में बिलकुल अलहदा अपना संगठन करना चाहिए, नहीं तो वह मिले हुए राष्ट्रीय दलों से विलीन हो जायंगे। साथ ही मजदूरों को यह भी महसूस करना चाहिए कि आज मुल्क में राष्ट्रवाद सबसे मजबूत शक्ति है और उसे पूरी तरह से उन्हें सहयोग देना चाहिए। उन्हें आर्थिक मसलों में उसपर प्रभाव डालने की कोशिश भी करनी चाहिए।

मैं कांग्रेस के अलावा मजदूरों की और कोई राजनैतिक पार्टी बनने के उसूलन खिलाफ नहीं हूं, लेकिन मुझे डर है कि आज ऐसी पार्टी बनने का नतीजा यह होगा कि कुछ व्यक्ति, जो मजदूर की कीमत पर अपने को आगे बढ़ाने की कोशिश करते हैं, मजदूर का शोषण करेंगे।

राष्ट्रीय कांग्रेस, जैसा उसके नाम से पता चलता है, एक राष्ट्रीय संस्था है। उसका ध्येय हिन्दुस्तान के लिए राष्ट्रीय आजादी हासिल करना है। उसमें बहुत-सी ऐसी श्रेणियां और दल भी शामिल हैं, जिनके वास्तव में विरोधी सामाजिक हित हैं, लेकिन इस वक्त एक सामान्य राष्ट्रीय प्लेटफार्म उन्हें संगठित रख रहा है। पिछले सालों में कांग्रेस का झुकाव

समाजवादी कार्यक्रम की ओर हुआ है; लेकिन समाजवादी होने से वह बहुत दूर है।

निजी तौर पर मैं चाहूंगा कि कांग्रेस खूब आगे बढ़े और पूरा समाजवादी कार्यक्रम ग्रहण कर ले। मैं भी यही मानता हूं कि आज कांग्रेस में ऐसे बहुत से दल हैं जो विचारों में बहुत पिछड़े हुए हैं और कांग्रेस को आगे बढ़ने से रोकते हैं। यह सब मानते हुए भी, मुझे जरा भी शुबहा नहीं है कि कांग्रेस हिन्दुस्तान में कहीं अधिक युद्धशील संस्था रही है। मुझे उन आदमियों पर बड़ी हंसी आती है जो खुद तो कुछ करते-कराते नहीं हैं और कांग्रेस पर दोष लगाते हैं कि वह युद्धशील नहीं है। हमारे बहुत से तथाकथित समाजवादी युद्धशीलता को सिर्फ कहने तक ही या उस पर बढ़-बढ़ कर बातें मारने तक ही सीमित रखते हैं। यह एक भारी खतरे की बात है।

उन कांग्रेसमैनों को जो मजदूरों के मामलों में दिलचस्पी रखते हैं, अपने काम का रास्ता इस प्रकार बनाना चाहिए—वे अलहदा-अलहदा मजदूर-संघों में काम करें और अपनी ही एक विचार-धारा और काम का कार्यक्रम बनाने में मजदूरों की मदद करें। वह कार्यक्रम जहां तक हो, युद्धशील हो, चाहे कांग्रेस के कार्यक्रम से आगे हो। राष्ट्रीय कांग्रेस में, मजदूरों के कार्यक्रम से मेल रखते हुए, आर्थिक स्थिति को सामने रखने की कोशिश करनी चाहिए। अनिवार्य रूप से कांग्रेस का कार्यक्रम, जहां तक विचारों का सम्बन्ध है, उतना आगे नहीं होगा जितना मजदूरों का कार्यक्रम होगा; लेकिन युद्धशील कारंवाइयों में सहयोग रखना भी बिलकुल संभव है।

नवम्बर, १९३६

: १८ :

बड़े और घरेलू उद्योग

निजी तौर पर मैं बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास में विश्वास करता हूं, फिर भी खादी-आन्दोलन और बड़े ग्रामोद्योग-संगठन का राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक कारणों से मैंने समर्थन किया है। मेरे विचार से इन दोनों में कोई आवश्यक संघर्ष नहीं है। यों कभी-कभी दोनों के विकास में और कुछ पहलुओं पर संघर्ष हो सकता है। इस मामले में मैं बड़ी हदतक गांधीजी के दृष्टि-विन्दु का प्रतिनिधित्व नहीं करता; लेकिन व्यवहार में अबतक हम दोनों के दृष्टि-विन्दुओं में कभी कोई मार्के का संघर्ष नहीं हुआ।

यह मुझे साफ दीखता है कि कुछ मुख्य और महत्वपूर्ण उद्योग हैं जैसे रक्षा-उद्योग और जनसाधारण की भलाई के काम। ये बड़े पैमाने पर होने चाहिए। कुछ दूसरे उद्योग हैं, वे चाहे बड़े पैमाने पर हों या छोटे या घरेलू पैमाने पर। घरेलू पैमाने पर उद्योग होने के बारे में मतभेद हो सकता है। इस भेद-भावके पीछे दृष्टिविन्दु और सिद्धान्त का अन्तर है और श्री कुमारप्पा[1] को जिस प्रकार मैं समझता हूं, उन्होंने भी इसी दृष्टि-विन्दु के अंतर पर जोर दिया था। उनका कहना था कि वर्तमान बड़े पैमाने की पूंजीवादी प्रणाली वितरण की समस्या को दरगुजर करती है और उनका आधार हिंसा पर है। इसके साथ मैं पूर्णतया सहमत हूं। उनका सुझाव यह था कि घरेलू उद्योगों के बढ़ने में वितरण अच्छी प्रकार से होता है और उसमें हिंसा का तत्व भी बहुत कम होता है। इसके साथ भी मैं सहमत हूं, लेकिन इसमें अधिक सचाई नहीं है। वर्तमान आर्थिक ढांचा तो हिंसा और एकाधिकार पैदा करता है और सम्पत्ति को कुछ लोगों के हाथों

---

[1] गांधी-विचार-धारा के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री।

में संचित कर देता है। बड़े उद्योग से अन्याय और हिंसा नहीं आती; बल्कि प्राइवेट पूंजीवादी और फाइनेंशियर उनके दुरुपयोग से ऐसा करते हैं। यह सच है कि बड़ी मशीनें आदमी की निर्माण और विनाश की शक्ति बहुत बढ़ा देती हैं और उनसे आदमी की भलाई और बुराई की शक्ति भी बहुत बढ़ती है। मेरे खयाल से पूंजीवाद के आर्थिक ढांचे को बदल कर बड़ी मशीनों के दुरुपयोग और हिंसा को दूर करना संभव है। जरूरी तौर पर निजी स्वामित्व और समाज के लाभ के इच्छुक रूप से ही प्रतिस्पर्धात्मक हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। समाजवादी समाज से यह बुराई दूर हो सकती है और साथ ही बड़ी मशीनों से होने वाली अच्छाई भी हमें मिल सकती है।

मेरे खयाल से यह सच है कि बड़े पैमाने और बड़ी मशीन में कुछ स्वाभाविक खतरे होते हैं। उसमें शक्ति-संचय की प्रवृत्ति होती है। मुझे यकीन नहीं है कि उसे एकदम दूर किया जा सकता है; लेकिन मैं किसी भी ऐसी दुनिया या प्रगतिशील देश की कल्पना नहीं कर सकता जो बड़ी मशीन का परित्याग कर सकता है। यदि यह संभव भी हुआ तो उसके परिणामस्वरूप पैदावार बहुत कम हो जायगी और इस प्रकार उससे जीवन की रहन-सहन का माप भी बहुत गिर जायगा। यदि कोई देश उद्योगीकरण को छोड़ देने की कोशिश करता है तो नतीजा यह होगा कि वह देश आर्थिक तथा अन्य रूपों में उन दूसरे देशों का शिकार हो जायगा, जिनका कि अधिक औद्योगीकरण हो चुका है। घरेलू उद्योगों के व्यापक पैमाने पर विकास के लिए स्पष्ट रूप से राजनैतिक और आर्थिक सत्ता की आवश्यकता है। यह मुमकिन नहीं है कि एक देश जो घरेलू उद्योगों में पूरी तरह से लगा हुआ है वह इस राजनैतिक या आर्थिक सत्ता को कभी भी पा सकेगा और इसलिए वह उन घरेलू उद्योगों को भी आगे न बढ़ा सकेगा जिनको कि वह आगे बढ़ाना चाहता है।

इसलिए मैं महसूस करता हूं कि बड़ी मशीनों के उपयोग और विकास को प्रोत्साहन देना और इस तरह हिन्दुस्तान का औद्योगीकरण करना

जरूरी और मुनासिब है। साथ ही मुझे यकीन है कि इस तरीके से कितना ही औद्योगीकरण क्यों न हो, उससे हिन्दुस्तान में बड़े पैमाने पर घरेलू उद्योग के विकास की आवश्यकता को दूर नहीं किया जा सकता—घरेलू उद्योग अवकाश के समय के पूरक धन्धे के रूप में नहीं, बल्कि स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में। मैं नहीं जानता कि आने वाली एक या दो पीढ़ियों के अर्से में विज्ञान क्या-क्या कर डालेगा, लेकिन जहां तक मैं देखता हूं, घरेलू उद्योग, बड़े उद्योगों के अतिरिक्त, जिनको कि हर प्रकार से प्रोत्साहन दिया जायगा, हिन्दुस्तान के लिए जरूरी रहेंगे। इसलिए समस्या यह रह जाती है कि इन दोनों का मेल कैसे हो? यह सरकार द्वारा आयोजन का प्रश्न है। मौजूदा अराजक पूंजीवादी प्रणाली के होते हुए इसे सफलता पूर्वक नहीं सुलझाया जा सकता।

इस विषय पर अपने विचार संक्षेप में समझाने की मैंने कोशिश की; लेकिन यह तो महसूस करता ही हूं कि घरेलू उद्योगों के प्रतिपादकों के साथ, उनके आधारमूलक दृष्टि-बिन्दु को स्वीकार न कर सकते हुए भी, मैं पूरी तरह से सहयोग कर सकता हूं।

दुर्भाग्य से इस समय हम एक समाजवादी सरकार के साथ व्यवहार नहीं कर रहे हैं, बल्कि एक संक्रांति अवस्था में होकर गुजर रहे हैं, जबकि पूंजीवादी-प्रथा का विस्फोट हो रहा है। इससे बहुत-सी कठिनाइयां उठ खड़ी होती हैं। हर हालत में यह तो स्पष्ट है कि आज भी जो सिद्धान्त लागू किये जायंगे, वे वही होने चाहिए जिनका निर्माण कांग्रेस ने किया है। याने मुख्य उद्योग, सर्विसें और यातायात इत्यादि पर राज्य का स्वामित्व हो या वे उनके नियंत्रण में हों। यदि मुख्य उद्योगों में सभी प्रमुख उद्योग शामिल हैं तब तो बहुत बड़े अंश में समाजीकरण होगा। अपनी नीति के आवश्यक परिणाम के स्वरूप में तो यह भी कहूंगा कि जहां कहीं बड़े उद्योग, जो किसी की निजी सम्पत्ति हैं, और घरेलू उद्योग के बीच कोई संघर्ष है, वहां राज्य को उस बड़े उद्योग को अपनी सम्पत्ति बना लेना चाहिए या उसे अपने नियंत्रण में कर लेना चाहिए। उस दशा

में राज्य को अपनी बनाई किसी भी नीति को ग्रहण करने का अधिकार और आजादी है और वह बड़े और घरेलू दोनों प्रकार के उद्योगों में मेल करा सकती है।

अपने पिछले बीस बरस के कांग्रेस की नीति के काफी अनु भवसे विश्वास के साथ कह सकता हूं कि उद्योग हिन्दुस्तान के लिए बड़े आर्थिक और सामाजिक लाभ के रहे हैं। यह बिलकुल सच है कि कांग्रेस यह मान कर चली कि बड़े उद्योग तो इतने समर्थ हैं कि अपनी देखभाल खुद कर लें और इसलिए अधिक ध्यान घरेलू उद्योगों की तरफ देना चाहिए। गैर-सरकारी संस्थाएं और राज्य का आर्थिक ढांचा हमारे काबू से एकदम बाहर था। ऐसी परिस्थितियों के बीच बड़े उद्योगों को प्रोत्साहन देने का मतलब था निजी स्थापित स्वार्थों,अक्सर विदेशी स्थापित स्वार्थों को प्रोत्साहन देना। लेकिन हमारा ध्येय था कि हिन्दुस्तान की मनुष्य-शक्ति का और बहुत-से लोगों के समय का, जिसका कि अपव्यय हो रहा था, सदुपयोग करके न सिर्फ पैदावार को ही बढ़ाया जाय, बल्कि हिन्दुस्तान की जनता में आत्म-निर्भरता पैदा की जाय। इसमें कांग्रेस को बहुत सफलता मिली।

इस विषय पर हवाई सिद्धान्त के रूप में विचार नहीं किया जा सकता; बल्कि देश की मौजूदा स्थितियों और जीवन की घटनाओं के संबंध में उनपर विचार होना चाहिए। मानवी साधनों को हम दरगुजर नहीं कर सकते। आज चीन में घरेलू उद्योगों की तरफ कोई विशेष झुकाव नहीं है। लेकिन स्थितियों के दबाव से चीनियों को बहुत तेजी के साथ अपने ग्रामोद्योग और सहकारी धंधे बढ़ाने पड़े हैं। हमारे ग्रामोद्योग-आन्दोलन में चीन की बहुत ज्यादा दिलचस्पी थी और मुझसे कहा गया था कि उद्योगों के अपने विशेषज्ञों को मैं चीन भेजूं। यह संभव है कि कुछ चीनी विशेषज्ञ हमारे ग्रामोद्योग के तरीकों का अध्ययन करने के लिए हिन्दुस्तान आवें।

: १९ :

चर्खे का महत्व

मैं चर्खे के खिलाफ और पक्ष में बहुत-कुछ कह सकता हूं। चर्खे ने काफी फायदे पहुंचाये हैं। लेकिन चर्खे को मैं कोई मंत्र नहीं मानता। चर्खा एक औजार है, जो हमारे लिए लाभदायी है। दूसरे भी हजार औजार हमें चलाने हैं। महात्माजी चर्खे के बारे में किस्म-किस्म की बातें करते हैं जो मेरी समझ में नहीं आतीं। पर जितना समझ में आता है उतने का ही उपयोग किया जाय तो बहुत काफी है।

एक बात और बता दूं। मैं अच्छा कातना जानता हूं और मेरा दावा है कि किसी को भी चार दिन में चर्खा कातना सिखा दूंगा। लेकिन पिछले तीन-चार वर्ष मैंने नहीं काता। पर एक अजीब बात है कि चीन से जब मैं आया तब पहला काम मैंने अपने पुराने चर्खे को देखने का किया। जेल जाने के वास्ते मैं चर्खे को तैयार करना चाहता था। जब पुराने चर्खे से मुझे संतोष नहीं हुआ तो मैंने एक नया चर्खा खरीद लिया।

चर्खे के दो पहलू हैं: (१) इसके कातने से क्या लाभ है। (२) लड़ाई के सिलसिले में यह क्या असर रखता है? मैं चर्खे का अंध-भक्त नहीं हूं, परन्तु इसमें फायदा मैंने देखा है। इसमें राजकीय असर है। चीन में हर जगह चर्खे और ग्रामोद्योग के बारे में सवाल हुआ। मैं यह देखकर हैरान हो गया कि कोई जगह ऐसी नहीं, जहां मुझसे यह नहीं पूछा गया कि हिन्दुस्तान में चर्खे और ग्रामोद्योग के बारे में क्या हो रहा है? चीनवालों के सामने कोई अहिंसा का सवाल नहीं है, न बड़े-बड़े कारखानों से परहेज करने का। परन्तु वहां के वाकयात ऐसे हैं, जिनसे चीन के गांव-के-गांव इसमें दिलचस्पी रखते हैं।

इसलिए वे लोग हर किस्म के ग्रामोद्योगों को बढ़ाने की कोशिश कर रहे हैं। इस वक्त वे चाहें तो भी कारखाने खड़े नहीं कर सकते। कारखाने

किसी समय भी बम के शिकार हो सकते हैं, पर घर-घर चलनेवाले चर्खे पर फौज आक्रमण नहीं कर सकती। फौज भी आ गई तो किसान सरक जायंगे और चर्खा बगल में लेते जायंगे। इस तरह रोजमर्रा के जीवन के लिए ग्रामोद्योग वहां आवश्यक हो गये हैं। चीन का सवाल वैसा ही है जैसा हमारा है। वहां घनी आबादी है। हम पेचीदा सवालों को पढ़ते ही नहीं। रूस की बड़ी-बड़ी बातें पढ़ते हैं। जब सुनते हैं कि वहां ट्रैक्टर से खेती हो रही है तब हम भी वैसा ही करना चाहते हैं। मेरी भी इच्छा है कि हमारे यहां फोर्ड के ट्रैक्टर काम करें और खेती की तरक्की हो। लेकिन अगर आपको फोर्ड से या रूस के प्रतिनिधि से बात करने का मौका मिले तो सुनकर चकित होंगे। मुझे फोर्ड के एजेन्ट से बात करने का मौका मिला था। उसने कहा था कि हमारे ट्रैक्टरों के लिए साइबेरिया जैसा कोई अनुकूल क्षेत्र नहीं है और हिन्दुस्तान जैसी कोई प्रतिकूल जगह नहीं है। साइबेरिया में मीलों जमीन खाली है और आबादी नहीं-सी है। हिन्दुस्तान में तो इतनी आबादी है कि ट्रैक्टर के लिए एक चक जमीन मिलना नामुकिन है। बंगाल में जहां एक बालिश्त में चार-पांच आदमी बैठे हैं वहां ट्रैक्टर कैसे चलेंगे? हमारे यहां इस मशीनरी के लिए गुंजाइश नहीं है। पचास वर्ष के बाद क्या होगा, यह मैं नहीं बता सकता। दुनिया बदलती है, मैं भी बदलता हूं और हिन्दुस्तान में तरह-तरह के परिवर्तन चाहता हूं, लेकिन आज जो स्थिति है उसमें सिर्फ कारखानों से हिन्दुस्तान का सवाल हल न होगा। मैं अपने को वैज्ञानिक आदमी समझता हूं। आप लोगों में से बहुतों का जन्म भी नहीं हुआ होगा तब मैंने साइंस लेकर एक डिग्री पाई थी। साइंस के बिना मैं किसी चीज को सोच नहीं सकता। कोई जबरदस्ती मुझे कुछ समझाने आवे तो मेरा दिमाग उसका विरोध करता है। महात्माजी का मैं आदर करता हूं, लेकिन भक्ति नहीं करता। यह मेरा दुर्भाग्य है कि उनकी बात वैसे-की-वैसे मैं अपने दिमाग में नहीं ला सकता। लेकिन मैं सिपाही के नाते उनकी बातों को समझने की कोशिश करता हूं। मैं अदब के साथ आप लोगों से कहूंगा कि चर्खे को निकम्मा

बताना वाकयात से ताल्लुक नहीं रखता; क्योंकि हम लोगों की आबादी बहुत घनी है, हमें चीज ऐसी चाहिए जो हर जगह हरेक आदमी को करने के लिए कह सकें।

दूसरा लड़ाई का पहलू है। महात्माजी को जनरल बनाना चाहते हैं और महात्माजी का कहना है कि चर्खा ही मेरा हथियार है। पर हम महात्माजी को इस तरह रिश्वत देना नहीं चाहते। हम उनके हाथ बांध देना नहीं चाहते। आजाद रखना चाहते हैं। सवाल उठता है, इसमें क्रान्तिकारी बात क्या है? चर्खे में क्रान्तिकारी कोई चीज नहीं। क्रान्ति तो आपके दिमाग में है। अगर दिमाग में लड़ाई भरी हो तो चर्खा क्या, झाड़ू भी लड़ाई का निशाना हो सकती है। अगर दिमाग में लड़ाई नहीं है तो अच्छे-से-अच्छे हथियार भी बेकार हैं। फर्ज कीजिये कि किसी वजह से अंग्रेजों ने कानून बना दिया कि हर घर में चर्खा रहे और बिना खादी के कपड़े न रहें और हमारे देश में खादी और चर्खा हो जाय तो उसमें कोई लुत्फ नहीं होगा। हां, थोड़ा-सा आर्थिक लाभ जरूर होगा, पर उससे हमारी ताकत या संगठन पैदा नहीं हो सकते। जितने संशोधन यहां आये, उनमें चर्खे के स्थान पर जो बात रखी गई है उससे साफ पता चलता है कि अगर चर्खा छोड़ दें तो सिर्फ व्याख्यान देना ही लड़ाई का साधन हो जाता है। व्याख्यान से वातावरण तैयार होता है, यह मैं भी मानता हूं। काफी जोश पैदा किया जा सकता है। पर उससे क्रान्ति पैदा नहीं होती। अगर हो भी तो थोड़े वक्त के लिए होती है। उसकी जड़ पक्की नहीं होती तबतक उकसाया हुआ आन्दोलन खतरनाक होता है। इसलिए किसानों को कोई ऐसी चीज देनी चाहिए जो उनकी सब भावनाओं के लिए पूर्ति का काम करे।

२ दिसम्बर, १९३९

: २० :

शिक्षा का ध्येय

अक्सर मैंने उन गहरे खजानों में गोते लगाए हैं जिनमें गुजरे जमानों के खयालात, सपने और तजुरबे दबे पड़े थे। लेकिन तकदीर और स्थिति ने मिलकर साजिश की और मुझे उस सुन्दर और सुनियमित जिन्दगी से खींचकर देश के इतने अपढ़ लोगों के बीच ला पटका।

मैं बहुत से पुरुषों और स्त्रियों से मिला। उनमें से अधिकांश ने स्कूल और कालेज की शक्ल तक नहीं देखी और न राज्य की तरफ से या निजी तौर पर की गई शिक्षा की व्यवस्था ने ही उनपर कोई असर डाला।

आखिर शिक्षा से बढ़कर आकर्षक और अहमियत रखनेवाली चीज आज और क्या है? लड़ाइयों में जूझती इस दुनिया में दुःख भरे हैं, झगड़े हैं और हजारों समस्याएं हैं जो हमें सता रही हैं। ऐसे वक्त में मुनासिब शिक्षा के अलावा और किससे हम शान्ति पा सकते हैं और कैसे इन समस्याओं का हल निकाल सकते हैं?

मुझ जैसे अनाड़ी आदमी के लिए पेचीदा सवालों पर यहां चर्चा करना कहां मुनासिब होगा? ये पेचीदा सवाल तो विशेषज्ञों के लिए हैं। लेकिन विशेषज्ञ के विशेष रूप से चीजों को देखने के तरीके में एक खतरा है। हो सकता है कि चीजों को देखने में उचित दृष्टिकोण उसका न रहे और सामूहिक रूप में वह जिन्दगी का देखना भूल जाय। इस खतरे के खिलाफ इन्तजाम करना होगा, खास तौर से इस वक्त में जबकि जिन्दगी की नींव को ही चुनौती दी जा रही है और वह झगड़े में पड़ी है। शिक्षा के पीछे आपका ध्येय और उद्देश्य क्या है? जरूर ही आप बढ़ती पीढ़ी को जिन्दगी के लिए तैयार करते हैं। पर आप जिन्दगी को किस सांचे में ढालना चाहते हैं; क्योंकि अगर उस सांचे की साफ तस्वीर आपके

दिमाग में न होगी तो जो शिक्षा आप देंगे वह दिखावटी और दोषपूर्ण होगी। उद्देश्य भी उसमें कुछ न होगा और आपकी समस्याएं और कठिनाइयां बढ़ती ही जायंगीं। आप जहाजी विद्या पर व्याख्यान देते रहेंगे, जबकि जहाज डूबता जायगा।

बहुत जमाने से शिक्षा का आदर्श आदमी की तरक्की करना रहा है। जरूरी तौर पर यही आदर्श रहना चाहिए; क्योंकि बिना आदमी की तरक्की के सामाजिक प्रगति नहीं हो सकती। लेकिन आज आदमी की वह चिंता भी जन-साधारण को सामने रखकर करनी चाहिए, नहीं तो शिक्षित आदमी अशिक्षित जन-समूह में गर्क हो जायंगे। और किसी भी हालत में क्या यह मुनासिब या ठीक है कि थोड़े से लोगों को तरक्की करने और बढ़ने का मौका मिले जबकि बहुत से लोग उससे वंचित रहें?

लेकिन इंसान के दृष्टिकोण से भी एक महत्त्वपूर्ण सवाल का हमें मुकाबिला करना है। क्या एक अकेला इंसान दुर्लभ मौकों को छोड़कर दरअसल आगे बढ़ सकता है, अगर उसके चारों तरफ का वायुमण्डल हर वक्त उसे नीचे खींचता हो? अगर वह वायुमंडल उसके लिए दूषित और नुकसानदेह है तो इंसान का उससे लड़ना बेसूद होगा और लाजिमी तौर पर वह उससे कुचला जायगा।

यह वायुमंडल क्या है? उसमें वे पुश्तैनी विचार, दुराग्रह और वहम शामिल हैं जो दिमाग पर बांध लगा देते हैं और इस बदलती दुनिया में तरक्की और तब्दीली को रोकते हैं। ये राजनैतिक स्थितियां हैं जो अकेले इंसान और इंसानों के मजमुए को ऊपर से लादी गई गुलामी में रखती हैं और इस तरह उनकी आत्मा को भूखों मार डालती हैं और उनकी भावना को कुचल देती हैं। सबसे अधिक आर्थिक स्थितियों का दबाव है। वे जनता को मौका देने से इंकार करती हैं। हमारे चारों तरफ दुराग्रह और वहम की जटिलता और राजनैतिक और आर्थिक स्थितियों का वायुमंडल फैला है, जिसके पंजे में हम फंसे हैं।

आपकी शिक्षा-प्रणाली सारे नामवर गुण सिखा सकती है; लेकिन जिन्दगी और ही कुछ सिखाती है। और जिन्दगी की आवाज कहीं ऊंची और तेज है। सहकारी प्रयत्न के लाभ आप बता सकते हैं; लेकिन हमारे आर्थिक ढांचे का आधार गला काटने वाली प्रतिस्पर्धा पर है और एक आदमी दूसरे को मारकर ऊपर उठना चाहता है। जो अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पछाड़ने में और कुचल डालने में सफल होता है, उसी को चमकदार इनाम मिलता है। क्या इसमें कोई अचरज है कि हमारे युवक उस चमकीले इनाम की ओर खिंचे और दावा करें कि लाभ के इच्छुक इस समाज में उस इनाम का पाना सबसे अधिक वांछनीय गुण है।

इस देश में हम तो अहिंसा की प्रतिज्ञा से बंधे हैं। फिर भी हिंसा न सिर्फ लड़ते-झगड़ते राष्ट्रों के प्रत्यक्ष रूप में ही हमें घेरे हुए है, बल्कि उस सामाजिक ढांचे के रूप में भी वह हमें घेरे हुए है, जिसमें कि हम रहते हैं। इस हिंसा-भरे वातावरण से सच्ची शान्ति या अहिंसा उस समय तक कभी भी हासिल नहीं हो सकती, जबतक कि हम उस वायुमंडल को ही न बदल दें।

उन आदर्शों के बावजुद जिन्हें कि हम स्वीकार कर सकते हैं, हमारी शिक्षा-प्रणाली इसी वायुमंडल की उपज और अंग है। इसी से वह पोषण पाती है और जान-बूझ कर या अनजाने इसी का वह समर्थन करती है। लेकिन यह बात संसार में स्पष्ट है कि यही वायुमंडल हमारी बहुत-सी मुसीबतों का कारण है और उसे जैसे-का-तैसा छोड़ देना सीधा बरबादी की तरफ जाना है।

असल में उस बरबादी को रोकने के लिए पहले ही से काफी देर हो गई है और यूरोप में जो लड़ाई चल रही है, वह शायद वर्तमान सभ्यता की नींव ही ढहा दे। इस बरबादी से हम बच नहीं सकते। यदि इससे बच भी गये तो हमारी निजी समस्याएं हैं जो हमें उस समय तक मिटा देने की धमकी देती हैं जबतक कि हम ठीक निगाह से चीजें न देखें और काम न करें। ताजी घटनाओं पर गौर करने से पता चलता है कि इस देश में बुराई,

फूट और ओछा पक्षपात कितना अधिक है। हमने यह भी देखा है कि किस प्रकार प्रबल राजनैतिक और आर्थिक हित तब्दीली के खिलाफ अपनी नाराजी दिखाते हैं और लड़ते हैं।

कुछ और बड़ी समस्याएं हैं जो हमारी शिक्षा पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं। जबतक इन समस्याओं का उचित हल जल्दी ही न निकलेगा तबतक शिक्षा-संबंधी हमारे प्रयत्न सब यों ही जायंगे। लेकिन तात्कालिक समस्याओं के अलावा कोई भी शिक्षा से दिलचस्पी रखने वाला इस महत्वपूर्ण प्रश्न को दरगुजर नहीं कर सकता कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में शिक्षा का ध्येय क्या हो। समूची शिक्षा का दृष्टि-बिन्दु निश्चित रूप से सामाजिक हो और वह हमारे युवकों को उस प्रकार के समाज का शिक्षण दे जिसमें कि हम रहना चाहते हैं। उस समाज का निर्माण करने के लिए राजनीतिज्ञ राजनैतिक और आर्थिक तब्दीलियों के लिए कोशिश कर सकते हैं; लेकिन उस समाज की असली बुनियाद तो हमारे स्कूलों और कालेजों में दी जाने वाली शिक्षा में रहनी चाहिए। तभी लोगों के मन में सच्चा परिवर्तन होगा, हालांकि वायुमंडल के बाहरी परिवर्तनों से भी उसे बहुत ज्यादा मदद मिल सकेगी और मिलेगी। ये दोनों प्रक्रियाएं साथ-साथ चलती हैं और एक-दूसरे लिए वे सहायक होनी चाहिए।

हमारा आज का सामाजिक ढांचा ढह रहा है। उसमें विरोधी बातें भरी हैं और वह बराबर लड़ाई और संघर्ष की ओर हमें लिये जा रहा है। लाभ के इच्छुक और प्रतिस्पर्धा में फंसे इस समाज का अंत होना चाहिए और उसकी जगह एक ऐसी सहकारी व्यवस्था आनी चाहिए जिसमें हम अकेले इंसान के फायदे की बात न सोच कर सबकी भलाई की बात सोचें, जहां इंसान इंसान की मदद करे और राष्ट्र राष्ट्र मिल कर इंसानों की तरक्की के काम करें, जहां पर मानवीय गुणों का मूल्य हो और जमात या समूह या राष्ट्र का एक के द्वारा दूसरे का शोषण न हो।

यदि हमारे आगे आने वाले समाज का यही मान्य आदर्श है तो हमारी शिक्षा भी उसी आदर्श को सामने रखकर ढाली जानी चाहिए और कोई भी बात ऐसी नहीं आनी चाहिए जो सामाजिक व्यवस्था के इस ध्येय के विरुद्ध हो। उस शिक्षा के लिए हमेशा अपने करोड़ों लोगों की परिभाषा में सोचना होगा और किसी दल या जमात के लिए उसके हितों की आहुति नहीं देनी होगी। अध्यापक तब वह नहीं होगा जो अपने उस प्रदेश की लकीर का फकीर है, जिससे उसे जीविका मिलती है; बल्कि वह आदमी होगा जो अपने पेशे को, उस पवित्र ध्येय के एक मिशनरी की उत्साहपूर्ण भावना से पसन्द करेगा, जो कि उसकी रग-रग में भरा है।

हिन्दुस्तान में शिक्षा की प्रगति की ओर बहुत ध्यान दिया गया है और लोगों के मन में उसके लिए उत्साह और उत्सुकता है। आज की इस दुनिया में, जिसमें उम्मीद बहुत कम है, यह बड़ी आशा की चीज है। इसमें शुबहा नहीं कि आप बुनियादी शिक्षा की नई योजना पर भी विचार करेंगे। जितना मैंने इस बुनियादी शिक्षा पर सोचा है उतना ही मैं उसकी तरफ खिंचा हूं। इसमें शक नहीं कि आगे तजुरबे होंगे, उनसे परिवर्तन होंगे। लेकिन मुझे इसमें सन्देह नहीं कि इस योजना के द्वारा हमने एक ऐसा मार्ग पा लिया है जिसमें यदि शिक्षा जीवन से सामंजस्य रखती है और जीवन के लिए आदमी को तैयार करती है, तो उससे ठीक लाइनों पर जनता शिक्षित हो सकती है, खास तौर से यह शिक्षा हिन्दुस्तान जैसे गरीब देश के लिए बहुत उपयुक्त है।

मैं हिन्दुस्तान भर में घूमा हूं। लाखों अभागे और दुःखी लोगों को मैंने देखा है—आंखें जिनकी बैठ गई हैं और निगाह में बेबसी भरी है। हिन्दुस्तान के इस दुर्भाग्य से मुझे चोट लगी है। फिर भी मैंने हमेशा महसूस किया है कि हमारे लोगों में आश्चर्यजनक शक्ति है और विश्वास किया है कि अपनी इस दुखी हालत से वे ऊपर उठेंगे। उनके खुश चेहरे फिर चमकेंगे और उनकी आंखों में फिर आशा भरेगी। हरेक इंसान का

यह जन्म-जात अधिकार है। उन्हें भूख लगती है, पर खाने के लिए उनके पास कुछ भी नहीं है। काम वे चाहते हैं, पर काम उनको नहीं मिलता। जाड़े से उनकी देह थर-थर कांपती है, उनके घर मिट्टी के झोंपड़े हैं। वे बराबर गिरते रहते हैं और कभी कोई आशा-जनक अवसर उनके रास्ते भी नहीं फटकता।

यह सब दुर्भाग्य है और इसका इलाज होना चाहिए। लेकिन सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि जब लोगों में कोई आशा नहीं है, न साहस से कार्य करने की भावना और अभिमान बचा है तो उनकी स्फूर्ति ही खत्म हो जायगी। हिन्दुस्तान को नया जन्म देने से पहले यही चीज है जिसका हमें खात्मा करना है।

बुद्धिवादी ऊंचे दिमाग के आदमियों को एक दूर दुःखी दुनिया के मामलों पर शांत भाव से विचार करना अच्छा लगता है। असलियतों से दूर, वे सीमित घेरों में अपने को सुरक्षित और संतुष्ट महसूस करते हैं। लेकिन असलियत तो अब हमारे सामने है और दुःखी दुनिया हमसे दूर नहीं है; बल्कि वह हमें घेर लेने और दुःखी करने की धमकी देती है। जो इस कटु वास्तविकता से डर गये हैं और उससे बचने के लिए पनाह ढूंढते हैं वे किस्मत के खिलाफ बेबसी से और बुरी तरह से लड़ते हैं और छिपी शक्तियों से नियंत्रित वे कठपुतली की तरह काम करते हैं। हममें से किसी को भी इस कमजोर और बेकार तरीके से ऐसे वक्त में काम नहीं करना चाहिए, जबकि हरेक चीज के लिए, जो कि जीवन के लिए योग्य है, स्पष्ट विचार और बहादुरी के कामों की जरूरत है। दुनिया खुशगवार नहीं है, इस बात को हम महसूस करें और तब आदमियों की तरह उसे बदलने की कोशिश करें और अपने सबके रहने के योग्य उसे अच्छी और ठीक बनावें।*

२७ दिसम्बर, १९३९

---

* लखनऊ में अखिल भारत शिक्षा-परिषद का उद्घाटन-भाषण।

: २१ :

अखबारों की आजादी

मैं अखबारों की आजादी का बहुत ही ज्यादा कायल हूँ। मेरे खयाल से अखबारों को अपनी राय जाहिर करने और नीति की आलोचना करने की पूरी आजादी मिलनी चाहिए। हाँ, इसका मतलब यह नहीं होना चाहिए कि अखबार या इंसान द्वेष-भरे हमले किसी दूसरे पर करे या गंदी तरह की अखबार-नवीसी में पड़े, जैसे कि हमारे आजकल के कुछ साम्प्रदायिक पत्रों की विशेषता है। लेकिन मेरा पक्का यकीन है कि सार्वजनिक जीवन का निर्माण आजाद अखबारों की नींव पर होना चाहिए।

मशहूर राष्ट्रवादी अखबार, जिन्होंने अपनी स्थिति बना ली है, बड़ी हद तक खुद अपना खयाल रख सकते हैं। उन पर कोई मुसीबत आती है तो जनता का ध्यान उनकी तरफ जाता है। मदद भी उन्हें मिलती है। पर जो छोटे और ऐसे अखबार हैं जिनका नाम थोड़ा ही है, उनमें सरकार अक्सर दखल देती है, क्योंकि उनकी प्रसिद्धि उतनी नहीं है। फिर भी हमारे छोटे-छोटे और कमजोर-से-कमजोर अखबारों को सरकारी दबाव का शिकार होने देना खतरे की बात है; क्योंकि ज्यों-ज्यों दबाव पड़ता है त्यों-त्यों दबाव डालने की आदत बढ़ती जाती है और उससे धीरे-धीरे जनता का मन सरकार द्वारा अपने अधिकारों का दुरुपयोग किये जाने का आदी हो जाता है। इसलिए पत्रकारों की एसोसियेशन तथा सब अखबारों के लिए यह जरूरी है कि कम मशहूर अखबारों तक के मामलों को यों ही न जाने दें। अगर वे प्रेस की आजादी बनाये रखने के ख्वाहिशमन्द हैं तो उन्हें सजग रह कर इस आजादी की रक्षा करनी चाहिए और हर प्रकार के अतिक्रमण को, फिर वह कहीं से भी हो, रोकना चाहिए। यह राज-नैतिक विचारों या मतों का ही मामला नहीं है। जिस घड़ी हम उस अखबार पर हमला होने में अपनी रजामन्दी दे देते हैं, जिससे हमारा मत-भेद है, तभी उसूलन हम अपनी हार स्वीकार कर लेते हैं और जब हमारे ऊपर

हमला होता है तो उसका मुकाबिला करने की शक्ति हममें बाकी नहीं रहती।

प्रेस की आजादी इसमें नहीं है कि जो चीज हम चाहें, वही छप जाय। एक अत्याचारी भी इस तरह की आजादी को मंजूर करता है। प्रेस की आजादी इसमें है कि हम उन चीजों को भी छपने दें, जिन्हें हम पसंद नहीं करते। हमारी अपनी भी जो आलोचनाएं हुई हैं उन्हें भी हम बर्दाश्त कर लें और जनता को अपने उन विचारों को भी जाहिर कर लेने दें जो हमारे पक्ष के लिए नुकसानदेह ही क्यों न हों; क्योंकि बड़े लाभ या अंतिम ध्येय की कीमत पर क्षणिक लाभ पाने की कोशिश करना हमेशा एक खतरे की बात है। अगर गलत माप कायम करते हैं और गलत तरीके अख्तियार करते हैं, चाहे इस यकीन से भी कि हम एक ठीक पक्ष को समर्थन दे रहे हैं, तो भी उन मापों और तरीकों का प्रभाव उस ठीक पक्ष पर भी पड़ेगा और उसमें दुराग्रह भर जायगा। जो ध्येय हमारे सामने है, वह कुछ अंश में उन्हीं मापों और साधनों द्वारा नियंत्रित होगा और शायद उसका अन्तिम परिणाम भी सर्वथा भिन्न हो, जिसकी कि हमने कल्पना भी न की थी।

अगर हमारा ध्येय जनतंत्र और आजादी है तो उसे हमें हमेशा अपने काम और कार्रवाइयों में सामने रखना चाहिए। अगर हमारा काम जनतंत्र और आजादी-विरोधी तरीके पर है तो निश्चित ही उसका फल जनतंत्र और आजादी नहीं होगा, बल्कि कुछ और ही होगा।

यह सच है कि ऊंचे-ऊंचे ऐसे सिद्धान्त बनाना आसान है जो कि तर्क-संगत हैं और बड़े अच्छे लगते हैं। पर उन्हें व्यवहार में लाना ज्यादा मुश्किल है; क्योंकि जिन्दगी अधिक तर्क-संगत नहीं है और आदमी के व्यवहार का माप भी उतना ऊंचा नहीं होता जितना कि हम चाहते हैं। हम एक ऐसे जंगल में रहते हैं जहां लुटेरे लोग और राष्ट्र अक्सर मनमाने ढंग से इधर-उधर चक्कर लगाते हैं और समाज को नुकसान पहुंचाने की कोशिश करते हैं। युद्ध या राष्ट्र की आजादी के लिए हलचल या वर्गों के बीच कशमकश और ऐसे संकट पैदा होते रहते हैं जिनसे घटनाओं की

स्वाभाविक गति-विधि वदल जाती है। उस वक्त अपने स्वतन्त्र उन सिद्धान्तों पर, जो कि आदमियों के व्यवहार का एक माप नियत करते हैं; पूरी तरह से कायम रहना मुश्किल हो जाता है। ऐसे संकट के समय में आदमी या जमात की साधारण स्वतन्त्रता पर कुछ हदतक फिर से विचार करना जरूरी हो जाता है। ऐसा जरूरी होते हुए भी, हमारा फिर से विचार करना एक खतरे की वात है और उसके नतीजे भी वुरे निकल सकते हैं, अगर हम पूरी तरह से सजग रह कर न चलें। ऐसा न करेंगे तो हम उसी वुराई के शिकार हो जायंगे जिसके खिलाफ कि हम लड़ते हैं।

जव हम जनतन्त्र, आजादी और नागरिक अधिकार की वात करते हैं तो हमें याद रखना चाहिए कि इनमें जिम्मेदारी और अनुशासन भी मौजूद रहता है। विना व्यक्ति और जमात के अनुशासन पालन किये और जिम्मेदारी महसूस किये सच्ची आजादी नहीं मिल सकती। गुलाम की हालत और स्वतन्त्रता से आजादी की स्थिति में आ जाने पर मनमाने तौर पर काम करने की प्रवृत्ति होना शायद लाजिमी है। यह अफसोस की वात है। लेकिन उसे समझना मुश्किल नहीं है; क्योंकि लम्वे अर्से से चले आनेवाले दवाव की यह प्रतिक्रिया है। कुछ हद तक इसको वर्दाश्त किया जाना चाहिए; क्योंकि उसे दवाने का मतलव तो उस भावना पर जोर देना है जिससे कि यह पैदा हुई है। फिर भी, हम सवको अपनी आजादी को नीचे गिराकर मनमानेपन, गैर जिम्मेदारी और अनुशासन-हीनता में परिणत होने से रोकने के लिए तैयार रहना चाहिए।

हिन्दुस्तान सहनशीलता का शानदार नमूना है, चीन को छोड़कर दुनिया के किसी भी मुल्क में ऐसा नमूना नहीं है। उस वक्त जवकि यूरोप और दूसरे मुल्क खून में नहा रहे थे, धर्म की लड़ाइयों में फँसे थे और एक दूसरे के मत या विचारों को दवाने में लगे थे, हिन्दुस्तान और चीन दूसरे मुल्कों के धर्मों के लिए अपने द्वार खोल रहे थे। संस्कृति के सुनहले युग का उन्हें विश्वास था। सहिष्णुता और संस्कृति की महान् पृष्ठभूमि हमारे लिए एक कीमती विरासत है।

आज हममें उन दूसरे मामलों के बारे में उत्साह है, जिनका हमसे महत्वपूर्ण संबंध है। यह ठीक है कि इन मामलों के बारे में हम गहराई के साथ सोचें, क्योंकि उन्हीं के परिणामों पर हमारे मुल्क और दुनिया का भविष्य निर्भर करता है। यह ठीक है कि हम उस पक्ष को आगे बढ़ाने में अपनी पूरी ताकत लगा दें, जो हमें प्रिय है। लेकिन यह ठीक नहीं है कि हम उन सिद्धान्तों को ही छोड़ दें या ढीला कर दें जो कि पुराने जमाने में हिन्दुस्तान की सभ्यता का गौरव और कुछ भिन्न अर्थ में, जनतंत्रीय आजादी की नींव रहे हैं। सब से अधिक हमें आजादी और नागरिक अधिकारों के साथ अनुशासन और जिम्मेदारी को जोड़ने की कोशिश करनी चाहिए।[1]

: २२ :

विज्ञान का मार्ग

(भारत में विज्ञान तभी उन्नति कर सकता है, जब कि उसका संदेश ऐसी भाषा में व्यक्त किया जाय, जिसे जन-साधारण समझ सकें। इसलिए विज्ञान-सम्बन्धी कम-से-कम ८० प्रतिशत कार्य तो अवश्य ही हिन्दुस्तानी में होना चाहिए।)

—नेहरू

हमारे सामने जिस नये भारत का निर्माण हो रहा है, उसका मैं किसी हद तक प्रतिनिधित्व करता हूं। मेरे विचार में यह उचित है कि नया भारत वैज्ञानिक दुनिया के साथ अपना गहरा मेल-जोल रखे। जबतक विज्ञान

---

१ बंगाल की प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की कार्य-समिति के 'युगान्तर' पत्र के बहिष्कार का प्रस्ताव पास करने तथा बंगाल सरकार द्वारा कई पत्रों से जमानत मांगने और सम्पादन में दखल देने पर 'अमृतबाजार पत्रिका' के सम्पादक श्री तुषारकान्ति घोष को लिखा गया पत्र।

का वर्तमान घटनाओं के साथ गहरा सम्बन्ध न होगा, हम ज्यादा उन्नति नहीं कर सकते।

यदि जागृत भारत की नवीन धाराएं विज्ञान की ओर नहीं बढ़तीं तो वे शीघ्र खत्म हो जायंगीं। इसलिए यह आवश्यक है कि इन दोनों का विकास साथ-साथ हो।

आपमें से बहुत-से लोग जानते हैं कि भारत में पिछले २५ वर्ष में और विशेषकर आजकल क्या हो रहा है। मेरे जैसा आदमी भी, जो कि खास राजनीति के लिए पैदा नहीं हुआ, राजनैतिक क्षेत्र में बुरी तरह फँस गया है। मैं अपने आप से यह प्रश्न कई बार पूछता हूं, "मैं राजनीति की ओर क्यों जा रहा हूं?" इसलिए कि जबतक वे सब बंधन नहीं काट दिए जाने जो मनुष्य को स्वतंत्रता से काम करने से रोकते हैं, तब तक किसी भी क्षेत्र में, विशेषकर विज्ञान में, उन्नति करना असम्भव ह। कोई भी जाति, जिसे सच्ची स्वतंत्रता और आत्म-विश्वास प्राप्त नहीं है, प्रगति नहीं कर सकती। इसलिए, खासकर विज्ञान की दृष्टि से, यह परमावश्यक है कि एक स्वतंत्र और आत्मविश्वास रखने वाले राष्ट्र का निर्माण किया जाय।

हिन्दुस्तान ने विश्व में, विज्ञान में विशेषकर पदार्थ-विज्ञान और अन्य विषयों में खूब नाम कमाया है। हमारे आलोचकों का कहना है, जो शायद ठीक भी है कि कई बातों में हमने उतनी तरक्की नहीं कि जितनी कि हमें करनी चाहिए थी। सम्भवतः कई बार हम निष्पक्ष होकर आलोचना करने के योग्य नहीं होते। फिर भी सारी बातों का ध्यान रखते हुए हम कह सकते हैं कि भारत ने खासी तरक्की की है। मुझे यह कल्पना करके आश्चर्य होता है कि तबतक हम हिन्दुस्तान के ज्यादातर लोगों को विकास करने का मौका नहीं देंगे, तबतक हम कितनी तरक्की कर सकते हैं! यदि हम भारत की केवल ५ प्रतिशत बौद्धिक शक्ति को भी काम में ला सकें तो असंख्य वैज्ञानिक पैदा हो जायंगे। आज तो हमने एक प्रतिशत से भी कम शक्ति का उपयोग किया है। हमारा मुख्य ध्येय होना चाहिए कि हम प्रत्येक व्यक्ति को विकास करने का मौका दें और ऐसा सामाजिक और आर्थिक

तंत्र खड़ा करें जिसकी वदौलत जनसाधारण प्रगति कर सके और वे एक-दूसरे का हित कर सकें।

मैं राष्ट्रीय आन्दोलन के इस पहलू को आप लोगों के सामने रखना चाहता हूं। इस आन्दोलन का लक्ष्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए विकास का द्वार खुल जाय ताकि वह जहां तक उन्नति कर सकता है, करे और वह न केवल अपना ही लाभ करे, बल्कि राष्ट्र का भी। यही एक कारण है कि हममें से बहुत से लोग, जो अन्य क्षेत्रों में काम कर सकते थे और यदि मौका मिले तो आज भी करने के लिए तैयार हैं, आज राजनैतिक क्षेत्र में पड़े हैं।

मेरा यह पक्का विश्वास है कि विश्व की समस्याओं का और हमारी राष्ट्रीय समस्याओं का एक ही सही हल है और वह है विज्ञान का मार्ग। जब वैज्ञानिक लोग अपनी अध्ययनशाला या प्रयोगशाला से बाहर निकलते हैं तो वे वैज्ञानिक ढंग का दूसरे क्षेत्रों में प्रयोग करना भूल जाते हैं। जबतक हम विज्ञान के अध्ययन में लगे हुए हैं हम बहुत सावधानी से काम लेते हैं, लेकिन ज्योंही हम बाहर आर्थिक या राजनैतिक क्षेत्र में निकले कि उस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को भूल बैठते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि हम अपनी समस्याओं को विज्ञान द्वारा ही हल कर सकते हैं। जब हम वैज्ञानिक दृष्टि-कोण को भूल जाते हैं तो अनेक प्रकार की मुसीबतें खड़ी हो जाती हैं।

जिस समय आप विज्ञान-सम्बन्धी विशेष प्रश्नों पर विचार कर रहे हों उस समय आपको चित्र के दूसरे पहलू को भी नहीं भूल जाना चाहिए। पिछले सालों में कुछ विशेषज्ञता प्राप्त करने की ओर खास झुकाव रहा है। इससे शानदार नतीजे निकले हैं, लेकिन साथ-ही-साथ इससे जनसाधारण का दृष्टिकोण भी अधिक संकुचित हो गया है। सम्भवतः हमारी बहुत-सी मुसीबतों का भी यह एक कारण है और जबतक किसी चित्र की पूरी कल्पना सामने न हो, वह समझ में नहीं आ सकता।

हम विज्ञान को विश्व की सामाजिक और राजनैतिक घटनाओं और आर्थिक तंत्र से जुदा नहीं कर सकते। इसलिए अब विज्ञान में दार्शनिक

समन्वय लाने की आवश्यकता है। पहले जमाने में विज्ञान इसी गुणके कारण इतना फैला हुआ नजर नहीं आता था जितना आज। उसमें एक प्रकार का सामञ्जस्य था। अब चूंकि प्रत्येक विषय अपने-अपने ढंग से प्रगति कर रहा है, इसलिए यह समन्वय कठिन हो गया है। मेरा विश्वास है कि विश्व की मौजूदा परिस्थिति में हमें समन्वित दृष्टिकोण से काम लेना चाहिए।

कुछ वर्ष पहले हीरोशिमा में एक बम फटा। इससे लोगों में बहुत हलचल फैल गई। मुझे लगा कि अणु बम रचनात्मक तथा विनाशात्मक, सब प्रकार के भारी परिवर्तनों का अग्रदूत है। इससे लोगों के दिलों में सवाल पैदा हुआ कि हम किधर जा रहे हैं, या यूं कहिए कि सभ्यता किस ओर जा रही है ? मैं नहीं कह सकता कि यह सवाल पैदा होना चाहिए था या नहीं, लेकिन बहुत से लोगों के दिलों में एक सवाल उठा और वह सवाल था कि क्या किसी ध्येय की पूर्ति के लिए कोई भी और कैसा भी साधन प्रयोग किया जा सकता है; क्योंकि हीरोशिमा में जो साधन प्रयोग में आया वह इतना भयंकर था कि जिसका शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता। यह ठीक है कि इससे मनोरथ सिद्ध हो गया, लेकिन यह ऐसा प्रश्न है जिसकी उपयोगिता पर प्रत्येक वैज्ञानिक को विचार करना चाहिए।

विज्ञान के दो पहलू हैं : एक रचनात्मक और दूसरा विनाशात्मक। हीरोशिमा में यह संघर्ष साफ जाहिर हो गया। संयुक्त राष्ट्र परिषद् के एटोमिक एनर्जी कमीशन के निर्णय के बावजूद—हम इस निर्णय का स्वागत करते हैं—हमारे दिलों में यह प्रश्न उठता है, "हम किस ओर जा रहे हैं ?"

हम एक नए युग के द्वार पर खड़े हैं। मानवता के सामने विशाल शक्ति-साधन मौजूद हैं, जिनसे समाज का ढांचा ही बदल जायगा। मैं उस समय की कल्पना करता हूं जब बारूद का आविष्कार पहली बार दुनिया में हुआ। यह मध्य युग की बात है। बारूद के आविष्कार से समाज के आर्थिक और राजनैतिक तंत्र को बदलने में किसी हद तक सहायता मिली। निस्संदेह उस समय और भी बहुत-सी नई शक्तियां काम कर रही थीं, फिर भी बारूद के आविष्कार का समाज पर गहरा असर पड़ा, जिसके

परिणामस्वरूप एक पूंजीवादी व्यवस्था खड़ी हुई। मैं आश्चर्य करता हूं कि अणु बम भी उस नई समाज-रचना का अग्रदूत है, जो कि वर्तमान परिस्थिति के अनुसार बननी चाहिए।

मेरे सामने ये सब विचार-धाराएं आती हैं, क्योंकि मैं चित्र को पूर्ण रूप से देखना चाहता हूं, केवल बहस-मुबाहिसे के चक्कर में नहीं पड़ना चाहता मुझे पूर्ण विश्वास है कि जबतक मानव-समाज की रचना में बुनियादी परिवर्तन नहीं आते, विज्ञान में या अन्य किसी भी क्षेत्र में प्रगति नहीं हो सकती। भारत में सामाजिक व्यवस्था कुछ अजीब-सी है। भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न तंत्र होते हैं। कुछ सामाजिक तंत्र ऐसे हैं जो मध्ययुग के सदृश हैं, कुछ बीसवीं शताब्दी के भी हैं। आजकल की परिस्थिति में वर्तमान व्यवस्था ज्यादा दिन नहीं टिक सकती।

मुझे विश्वास है कि ऐसे बुनियादी परिवर्तन आने वाले हैं, जिनसे समाज के ऊपर के चंद मुट्ठी भर आदमियों को ही नहीं, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को विकास पाने का मौका मिलेगा। भारत के लिए जो बड़ी योजनाएं हमने तैयार कर रखी हैं, वे जनता के सहयोग के बिना सफल नहीं हो सकतीं। मेरा विचार है कि हम इन प्रवृत्तियों को ठीक दिशा में और वैज्ञानिक ढंग से आगे ले जा सकते हैं।

मैं नहीं कह सकता कि भारत आगे किस दिशा में जायगा। हां, मुझे इतना ज्ञान अवश्य है कि मैं भारत का किस ओर जाना पसंद करूंगा, और इसके निमित्त पूरा जोर लगाऊंगा। जब यह महान शक्ति एकदम से स्वतंत्र हो जायगी, तो कुछ गड़बड़ भी अवश्य हो सकती है। जब कोई पुराना वृक्ष उखाड़ा जाता है तो उसके चारों ओर की जमीन हिल जाती है, और आज भारत में ऐसे कई वृक्ष उखाड़े जा रहे हैं। करोड़ों आदमियों के आजाद होने पर एक महान शक्ति का प्रवाह निकलेगा। लेकिन यह कहना कठिन है कि इस प्रवाह की दिशा क्या होगी।

हममें से बहुत-से लोग उन घटनाओं से, जो आजकल भारत में हो रही हैं, चिन्तित हैं। विदेशों से आए हुए मित्रों को भी इस संघर्ष से परिचित रहना

चाहिए। लेकिन जब इस संघर्ष का समाचार विदेशों को भेजा जाता है तो हजारों गुना बढ़ा-चढ़ा कर भेजा जाता है। विदेशों में इसका प्रभाव यह पड़ता है कि वहां भारत को एक ऐसा मुल्क खयाल किया जाता है कि जहां लोग एक दूसरे का गला काटने में ही लगे रहते हैं। भारतीय जनता, जो आज तक प्रायः निश्चल-सी रही, अब गतिशील हो गई है। देश के महान प्रवाहों के सामने आपसी झगड़े बहुत छोटे नजर आते हैं, यद्यपि ये कभी-कभी उस क्षण के लिए बहुत महत्वशाली प्रतीत होते हैं। भारत में एक महान परिवर्तन आ रहा है। सारी जनता आगे बढ़ रही है। जिस समय एक समूचा राष्ट्र आगे बढ़ता है और लोग अचानक अपने अन्दर अद्‌भुत शक्ति का अनुभव करते हैं तो वे जहां-तहां भटक भी जाते हैं; लेकिन महत्व की बात तो यह है कि उनमें जीवन है, और यदि वे गलती करते हैं और भटक भी जाते हैं तो अन्त में वे सही रास्ते पर आ जायंगे, क्योंकि वे शक्तिशाली हैं।

मुझे पूरा विश्वास है कि हमारा भविष्य बहुत उज्ज्वल है। इसलिए मैं चाहता हूं कि आप दूर की दृष्टि से भारत का चित्र अपने सामने रखें, न कि मौजूदा लड़ाई-झगड़ों को देख कर बहक जायं। झगड़े तो आजकल प्रायः सभी देशों में हैं, क्योंकि इस परिवर्तन-काल में झगड़ों का होना अनिवार्य है। लेकिन ज्यादा महत्व की बात यह है कि हम किस प्रकार अपना विकास करेंगे। वैज्ञानिक का फर्ज है कि वह विकास-सम्बन्धी योजनाएं बनाने में मदद दे। यदि हमारे देश को उन्नति करनी है, जैसा कि वह अवश्य करेगा, तो इसका विकास अलग-अलग रीति से नहीं हो सकता, बल्कि किसी योजना के अनुसार होगा, जिसका सम्बन्ध अन्य बातों से भी रहेगा। इसके सिवाय और किसी प्रकार तरक्की नहीं हो सकती।

पहली बात जो हमें समझ लेनी चाहिए वह है जनता की शक्ति। दूसरी बात यह कि हम उसे विकास करने का मौका दें। अगर जनता को शिक्षित बनने का मौका न मिले तो उसकी बहुत-सी शक्ति नष्ट हो जाती है। भारतीय सरकार ने आजतक इस प्रकार की कोई योजना नहीं

वनाई। प्रत्येक विभाग विना यह विचार किये हुए कि अन्य विभागों में क्या हो रहा हैं, अपने-अपने ढंग से चलता है। इसलिए जबतक कोई एक योजना न हो, काम नहीं चल सकता। अतः यह आवश्यक हो गया है कि ऐसी विस्तृत योजना वनाई जावे जिसमें राष्ट्र-जीवन के हर पहलू के बारे में विचार किया गया हो। 'नेशनल प्लैनिंग कमेटी' ने इस ओर कुछ प्रयत्न किया था, लेकिन राजनैतिक उथल-पुथल के कारण यह कमेटी भी अधिक समय तक काम न कर सकी।[1]

अव धीरे-धीरे इस ओर प्रयत्न किया जा रहा है। इसके लिए सबसे आवश्यक यह है कि पहले स्पष्ट किया जाय कि योजना का ध्येय क्या है और उसका ढांचा कैसा हो। फिर धीरे-धीरे उस पर अमल हो सकता है। इस योजना की समय-समय पर जांच-पड़ताल होती रहेगी और परिस्थिति के अनुसार इसे वदला जा सकता हैं। मेरा विचार है कि जबतक योजना ठीक ढंग से तैयार नहीं होती और उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं होता, सफलता मिलनी कठिन है।

निस्संदेह, विज्ञान केवल व्यक्ति की सत्य के लिए खोज ही नहीं है। यदि इसका उपयोग समाज के लिए हो सके तो इसका मूल्य वहुत वढ़ जाता हैं। इसका ध्येय समाज की वुराइयों को दूर करने का होना चाहिए। एक भूखे व्यक्ति के सामने सत्य की कोई हस्ती नहीं। उसे तो चाहिए रोटी। भूखे आदमी के सामने ईश्वर का भी कोई मूल्य नहीं। भारतवर्ष एक भूखा मुल्क है और यहां के करोड़ों भूख से तड़पते हुए व्यक्तियों के सामने सत्य, ईश्वर या और अच्छी-अच्छी वातों का जिक्र करने का मतलव है उनके साथ दिल्लगी करना। हमें उनके लिए रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि, जीवन की नितान्त आवश्यकताएं, मुहैय्या करनी हैं। जब हमें ये चीजें नसीव हो जायं, हम ईश्वर आदि वातों पर मजे से चर्चा कर सकते हैं।

---

[1]अव तो 'नेशनल प्लानिंग कमीशन' द्वारा पंचवर्षीय योजना तैयार की गई है, जिसके अनुसार अमल किया जायगा।

इसलिए विज्ञान का उपयोग समाज के हित के लिए होना चाहिए। भारत में इस दिशा में एक विशाल आयोजित ढंग पर ही अमल हो सकता है। यह काम शुरू करना केवल सरकार का ही फर्ज नहीं है। सरकार अच्छी भी होती हैं, बुरी भी। लेकिन साधारणतया सरकारों की गति बहुत मंद होती है और वे उसी समय कोई काम करती हैं जब जनता की आवाज उनके खिलाफ इतनी जोरों से उठती है कि उनका भविष्य खतरे में पड़ जाता है। इसलिए मैं वैज्ञानिकों की, सरकार का मुंह ताकने की प्रवृत्ति को पसंद नहीं करूंगा। हां, सरकार से सहायता प्राप्त करने की आशा रखना उनका हक है।

भारतीय सरकार के एक सदस्य की हैसियत से मैं इतना कह सकता हूं कि हम भारत में विज्ञान की उन्नति में विशेष दिलचस्पी रखते हैं। हम अपने देश की समस्त वैज्ञानिक शक्ति का लाभ उठायंगे और लोगों को शिक्षा पाने, उन्नति करने और समाज की सेवा करने का मौका देंगे। मैं इस विज्ञान परिषद को और अपने उन मित्रों को जो बाहर से आए हैं, विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि हम विश्व-शान्ति और मानव-समाज की उन्नति में आपके साथ पूर्णतया सहयोग रखना चाहते हैं।

लेकिन जब मैं आपके साथ यह वायदा करता हूं तो इसके साथ-साथ यह भी साफ जाहिर कर देना चाहता हूं कि हम युद्ध के कामों में हिस्सा नहीं लेंगे। मैं नहीं कह सकता कि हमारा भविष्य कैसा होगा। मैं भविष्य के बारे में कोई पेशीनगोई नहीं कर सकता और न मुझमें वह ताकत है कि मैं अपने देश को अमुक ढंग से काम करने के लिए बाध्य कर सकूं; लेकिन आजकल जबकि लोग फिर से युद्ध की बातचीत करने लग गए हैं और वैज्ञानिकों को आगामी युद्धों की तैयारी में जुटा दिया गया है, वैज्ञानिकों को चाहिए कि वे विचार करें कि उनका किस प्रकार दुरुपयोग किया जाता है और उन्हें यह साफ जाहिर कर देना चाहिए कि वे बुरे कामों में हिस्सा नहीं लेंगे।

मेरा यह पक्का विश्वास है कि भारत भविष्य में होने वाले भयंकर युद्धों में शामिल नहीं होगा। मैं यह दावा अवश्य कर रहा हूं, लेकिन साथ ही मैं यह भी जानता हूं कि शान्ति के लिए वैज्ञानिक काम क्या है और युद्ध के लिए क्या, इन दोनों में फर्क करना कठिन है। यह महान शक्ति—'अणु शक्ति'—जो अचानक वैज्ञानिक खोजों के परिणाम-स्वरूप हाथ लग गई है, अमन और युद्ध दोनों के लिए काम में आ सकती है। हम इसको इसलिए नहीं छोड़ देंगे कि यह युद्ध के लिए भी काम में आ सकती है। यह स्पष्ट है कि हम भारत में इस शक्ति का पूर्णतया विकास करना चाहते हैं। सौभाग्य से हमारे पास सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक मौजूद हैं जो इसमें हमारी सहायता करेंगे। मैं आशा करता हूं कि हम इसका विकास बाकी दुनिया के साथ मिल कर अमन कायम करने के लिए ही करेंगे।

यह बड़े दुःख की बात है कि जबकि दुनिया में ऐसी महान शक्तियां मौजूद हैं, जो भलाई के कामों में लगाई जा सकती हैं और लोगों का जीवन-माप इतना ऊंचा उठाया जा सकता है जिसका कभी स्वप्न में भी विचार नहीं आया होगा, लोग संघर्ष और युद्ध की बात करते हैं और ऐसे आर्थिक और सामाजिक तंत्र रखना पसंद करते हैं, जिनसे सर्वाधिकारों को प्रोत्साहन मिले और भिन्न-भिन्न दलों और व्यक्तियों की सम्पत्ति के माप का अन्तर बहुत बढ़ जावे। दूसरे लोग चाहे कुछ भी कहें, लेकिन यह एक बड़े दुःख की बात है और कोई भी वैज्ञानिक इस सामाजिक व्यवस्था को ठीक नहीं मान सकता।

इसलिए आजकल, जबकि हम अपनी राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में लगे हैं, यह अनिवार्य हो गया है कि हम उन बड़े प्रश्नों पर, जो हमारे सामने खड़े हैं, अधिकाधिक विचार करें, जिनका निर्णय करने में विज्ञान बहुत हद तक सहायता देगा। मैं आप सब लोगों को जो यहां उपस्थित हैं और जो भारत के वैज्ञानिक क्षेत्र में काम कर रहे हैं, निमंत्रण देता हूं कि आप भारत के भविष्य के बारे में इस विस्तृत दृष्टि से काम लें और भारत की ४० करोड़ जनता की बेहतरी के लिए बीड़ा उठावें और

वर्षों में जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन पैदा कर दिया है। सच तो यह है कि आज का जीवन विज्ञान की इन शाखा-प्रशाखाओं से ही पूरी तरह संचालित होता है और बनता-बिगड़ता है; और इनके बिना जीवन-यापन की कल्पना करना हमारे लिए कठिन है। लोग अकसर अतीत के बीते हुए अच्छे दिनों की, या विगत स्वर्ण-युग की, बात चलाया करते हैं। विगत इतिहास के कुछ ज़माने निराले तौर पर चित्ताकर्षक हैं, और सम्भव है कि कुछ बातों में वे हमारे जमाने से श्रेष्ठ भी हों। परन्तु यह आकर्षण भी जितना शायद दूरी के कारण या एक खास धुंधलेपन के कारण है उतना अन्य किसी वस्तु के कारण नहीं है। किसी युग को हम शायद इस कारण महान समझते हैं कि कुछ महान व्यक्तियों ने उसे सुशोभित किया या उसमें उनकी प्रधानता रही। इतिहास में शुरू से लगाकर अबतक साधारण जनता की अवस्था बड़ी शोचनीय रही है। विज्ञान ने युग-युगान्तर का उनका भार कुछ हलका किया है। अगर तुम अपने चारों ओर निगाह डालो तो देखोगी कि जिन वस्तुओं को तुम देख सकती हो उनमें से अधिकांश का विज्ञान के साथ कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है। हम व्यावहारिक विज्ञान के साधनों द्वारा यात्रा करते हैं, इन्हींके द्वारा एक-दूसरे को समाचार भेजते हैं, हमारे भोजन की वस्तुएं भी अक्सर इन्हीं साधनों से तैयार होती हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जाती हैं। जो अखबार हम पढ़ते हैं, या हमारी पुस्तकें, या जिस काग़ज पर मैं लिख रहा हूं या जिस क़लम से लिख रहा हूं, ये सब चीजें विज्ञान के साधनों के अलावा अन्य प्रकार से तैयार ही नहीं हो सकतीं। सार्वजनिक सफ़ाई और स्वास्थ्य तथा कुछ रोगों पर विजय, विज्ञान पर ही निर्भर है। आधुनिक संसार के लिए व्यावहारिक विज्ञान के बिना काम चलाना बिलकुल असम्भव है। बाक़ी तमाम दलीलें छोड़ भी दी जायं तो एक दलील अन्तिम और निर्णायक है—विज्ञान की सहायता के बिना संसार के निवासियों को पर्याप्त भोजन नहीं मिल सकेगा, और आधे से अधिक लोग भर पेट भोजन न मिलने से मौत के मुंह में चले जायंगे। मैं बतला चुका हूं कि विगत सौ वर्षों में आबादी किस तरह छलांग मार कर बढ़ गई है। यह

कभी भूल भी कर बैठता है। इसलिए ज्यों-ज्यों मशीनों में उन्नति होती जाती है, त्यों-त्यों उन पर काम करनेवाले मजदूरों की संख्या कम होती जाती है। आज कल एक अकेला मनुष्य कुछ हत्थों को घुमा कर या बटनों को दबाकर बड़ी-बड़ी मशीनों का संचालन करता है। इसका परिणाम यह होता है कि कारखानों में तैयार होनेवाले माल का उत्पादन बहुत अधिक बढ़ जाता है, और साथ ही कारखानों के बहुत-से मजदूर निकाल दिये जाते हैं, क्योंकि अब उनकी जरूरत नहीं रहती। इसीके साथ-साथ यंत्र-शास्त्र में इतनी तेजी से प्रगति हो रही है कि कोई नई मशीन कारखाने में लगने भी नहीं पाती कि नये सुधारों के कारण वह कुछ हदतक पुराने ढंग की हो जाती है।

मजदूरों के स्थान पर मशीनों के लगाये जाने का यह सिलसिला मशीनों के प्रारम्भ काल से ही चला आ रहा है। शायद मैं तुम्हें बतला चुका हूं कि उन दिनों बहुत दंगे हुए थे, और क्रोधित मजदूरों ने नई मशीनें तोड़-फोड़ डाली थीं। परन्तु बाद में मालूम हुआ कि आख़िरकार मशीनों के कारण अधिक लोगों को काम मिलता है। चूंकि मशीन की सहायता से मजदूर अधिक माल तैयार कर सकता था, इसलिए उसकी मजूरी की दर ऊंची हो गई और चीज़ों की क़ीमतें गिर गईं। इससे मज़दूर तथा साधारण लोग इन चीज़ों को ज्यादा खरीद सकते थे। उनके रहन-सहन के ढंग भी पहले से अच्छे हो गए, और कारखानों के बने माल की मांग बढ़ने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि अधिकाधिक कारखाने डाले जाने लगे, और उनमें अधिकाधिक मज़दूर काम पर लगाये गये। मतलब यह कि, यद्यपि मशीनों ने हर कारखाने में मज़दूरों की संख्या कम कर दी, पर समग्र रूप में पहले से भी अधिक मज़दूर काम पर लग गये, क्योंकि कारख़ानों की संख्या बहुत बढ़ गई।

यह सिलसिला मुद्दत तक चलता रहा, क्योंकि उद्योग-प्रधान देशों द्वारा पिछड़े-हुए देशों की दूरवर्ती मंडियों पर कब्जा करने से इसमें सहायता मिली। मगर पिछले कुछ वर्षों में यह सिलसिला बन्द हो गया मालूम देता है। शायद

वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में और अधिक विस्तार सम्भव नहीं है, और इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन आवश्यक हो गया है। आधुनिक उद्योग "सामूहिक उत्पादन" के पीछे पड़ा हुआ है, परन्तु यह तभी चल सकता है जब इस प्रकार तैयार हुआ माल जनसमूह द्वारा खरीदा जाय। अगर जनता बहुत ग़रीब है या बहुत बे-रोजगार हैं, तो वह इस माल को नहीं खरीद सकती।

परन्तु इसके बावजूद भी यांत्रिक उन्नति निरन्तर हो रही है और इसका नतीजा यह हो रहा है कि मशीनें मज़दूरों का स्थान लेती जा रही हैं और बेकारों की संख्या बढ़ा रही हैं। सन् १९२९ ई० से सारी दुनिया में व्यापार की भारी मंदी हो रही है, परन्तु इतने पर भी यंत्र-शास्त्र की उन्नति नहीं रुकी है। कहते हैं कि सन् १९२९ ई० से अब तक संयुक्त राज्य अमरीका में इतनी यांत्रिक उन्नति हुई है कि जो लाखों आदमी बेकार हो गए हैं उन्हें कभी काम पर लगाया ही नहीं जा सकता; चाहे उत्पादन सन् १९२९ ई० के बराबर ही क्यों न क़ायम रक्खा जाय।

सारे संसार में, और खास कर उन्नत उद्योग-प्रधान देशों में, बेकारी की महान समस्या उत्पन्न करने वाले और भी अनेक कारण हैं, पर यह एक बड़ा कारण है। यह एक निराली और औंधी समस्या है, क्योंकि नवीनतम मशीनों के द्वारा बहुत अधिक उत्पादन का परिणाम यह होना चाहिए कि राष्ट्र अधिक मालदार हो जाय और हरेक मनुष्य के जीवन का स्तर ऊंचा उठ जाय। परन्तु इसके विपरीत इसका परिणाम हुआ है गरीबी और भयंकर मुसीबत। खयाल होता है कि इस समस्या का वैज्ञानिक हल कठिन नहीं होगा। शायद कठिन है भी नहीं। परन्तु असली कठिनाई इसे वैज्ञानिक और उचित ढंग पर हल करने के प्रयत्न में उपस्थित होती है। क्योंकि ऐसा करने में अनेक निहित-स्वार्थों पर चोट पड़ती है, और ये स्वार्थ इतने बलशाली हैं कि अपनी-अपनी सरकारों पर इनका पूरा नियंत्रण है। इसके अलावा यह समस्या जड़ में अन्तर्राष्ट्रीय है, और आज की राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धाएं कोई अन्तर्राष्ट्रीय हल निकलने नहीं देतीं। सोवियत रूस इसी

प्रकार की समस्याओं का हल करने में वैज्ञानिक तरीक़ों का उपयोग कर रहा है। परन्तु चूंकि उसे राष्ट्रीय दृष्टिकोण से चलना पड़ता है, और बाक़ी की दुनिया पूंजीवादी है तथा रूस से शत्रुता रखती है, इसलिए उसकी कठिनाइयां बहुत अधिक हैं। अगर यह बात न होती तो ये कठिनाइयां इतनी अधिक नहीं होतीं। आज का संसार मूलतः अन्तर्राष्ट्रीय है, यद्यपि उसका राजनैतिक ढांचा पिछड़ा हुआ है और संकीर्ण राष्ट्रीयता से भरा हुआ है। स्थायी रूप से समाजवाद तभी सफल हो सकता है जब वह अन्तर्राष्ट्रीय जागतिक समाजवाद बन जाय। समय को पीछे नहीं ढकेला जा सकता। इसी प्रकार आज का अन्तर्राष्ट्रीय ढांचा, अपूर्ण होते हुए भी, राष्ट्रीय अलगाव के पक्ष में दबाया नहीं जा सकता। राष्ट्रीयतावाद को तीव्र करने का प्रयत्न, जैसा कि फ़ासीवादियों द्वारा विभिन्न दशों में हो रहा है, अन्त में असफल हुए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि वह आज की जागतिक अर्थ-व्यवस्था के मौलिक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के प्रतिकूल जाता है। हां, यह हो सकता है कि इस प्रकार असफल हो कर वह सारी दुनिया को अपने साथ ले बैठे, और इस तथाकथित आधुनिक सभ्यता को सार्वभौम विपत्ति में फंसा दे।

इस प्रकार की विपत्ति का ख़तरा न तो कोई दूर की बात है और न अविचारणीय। जैसा कि हम देख रहे हैं, विज्ञान अपने पीछे अनेक अच्छी चीज़ें लेकर आया है, परन्तु इसी विज्ञान ने युद्ध की बीभत्सता को भयंकर रूप में बढ़ा दिया है। राज्यों और सरकारों ने विशुद्ध अथवा व्यावहारिक विज्ञान की अनेक शाखाओं की उपेक्षा की है। परन्तु उन्होंने विज्ञान के सामरिक पहलू की उपेक्षा नहीं की है, और अपने-आपको हथियारों से लैस करने के लिए और अपना बल बढ़ाने के लिए विज्ञान की नवीनतम व्यावहारिक-कला का पूरा उपयोग किया है। सारी स्थिति का अन्तिम विश्लेषण यह है कि अधिकांश राज्यों का सहारा पशु-बल है, और वैज्ञानिक कला इन हुकूमतों को इतना बलवान बना रही है कि वे परिणामों से बिलकुल न डर कर जनता पर मनमाने अत्याचार कर सकती है। वह

पुराना ज़माना बहुत दिन हुए बीत चुका जब जनता अत्याचारी हुकूमतों के विरुद्ध उपद्रव किया करती थी, और आम रास्तों में नाकेबन्दियां करके लड़ा करती थी, जैसा कि फ्रांस की महान क्रान्ति में हुआ था। अब किसी निहत्थी या हथियारबन्द भीड़ के लिए राज्य के सुसंगठित और सुसज्जित सैन्य-बल से लड़ना असम्भव हो गया है। यह दूसरी बात है कि राज्य की सेना खुद ही विद्रोह कर दे, जैसा कि रूसी क्रान्ति के समय में हुआ था; परन्तु जब तक ऐसी घटना न हो, तब तक राज्य को बल से परास्त नहीं किया जा सकता। इस कारण आज़ादी के लिए प्रयत्नशील क़ौमों को यह ज़रूरत आ पड़ी है कि वे सामूहिक कार्रवाई के अन्य शान्तिपूर्ण उपायों का आश्रय लें।

इस प्रकार विज्ञान के कारण राज्यों की बागडोर गिरोहों या कुछ चुने हुए लोगों के हाथों में चली गई है, और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का तथा उन्नीसवीं सदी के पुराने लोकतंत्री विचारों का हनन हो रहा है। गिने-चुने लोगों की ऐसी हुकूमतों का विभिन्न राज्यों में प्रादुर्भाव हो रहा है। कभी तो ये हुकूमतें लोकतंत्र के सिद्धान्तों की महत्ता को स्वीकार करने का ढोंग रचती हैं, और कभी उनकी खुली निन्दा करती हैं। विभिन्न राज्यों की ये गिने-चुने लोगों की हुकूमतें आपस में टक्कर खाती हैं, और राष्ट्रों में युद्ध छिड़ जाता है। इसकी पूरी सम्भावना नज़र आती है कि आज या भविष्य में ऐसा महायुद्ध केवल इन गिने-चुने लोगों की हुकूमतों को ही नहीं बल्कि आधुनिक सभ्यता तक को विनष्ट कर देगा। यह भी सम्भव है कि इस युद्धाग्नि की राख में से अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो जाय, जिसकी मार्क्सवादी दर्शन में विश्वास रखने वाले बाट देख रहे हैं।

युद्ध की बीभत्स वास्तविकताओं की कल्पना करना कोई रुचिकर विषय नहीं है। और इसी कारण इस वास्तविकता को लच्छेदार शब्दों और उत्साहवर्द्धक बाजों और चमक-दमक वाली वर्दियों के परदे में छिपाया जाता है। परन्तु यह जानना आवश्यक है कि आज युद्ध का क्या अर्थ है। गत महायुद्ध ने बहुतों को युद्ध की बीभत्सता का भान करा दिया। इस पर भी

यह कहा जाता है कि जो अगला महायुद्ध होने वाला है उसकी तुलना में गत महायुद्ध कुछ भी नहीं था। क्योंकि गत कुछ वर्षों में जहां औद्योगिक कला ने दस गुनी उन्नति कर ली है, वहां युद्ध के विज्ञान में सौ गुनी उन्नति हुई है युद्ध अब केवल पैदल सेना के हल्लों और घुड़-सवार सेना के धावों का मामला नहीं रह गया है। पुराने पैदल सिपाही और घुड़-सवार आज युद्ध के लिए क़रीब-क़रीब उतने ही बेकार हो गए हैं जितने कि तीर-कमान। आज का युद्ध यांत्रिक टैंकों और वायुयानों और बमों का, और खास कर पिछली दो चीज़ों का, मसला है। वायुयानों की गति और कार्य-क्षमता दिन-पर-दिन तरक्क़ी कर रही है।

अगर युद्ध छिड़ जाय तो यह अन्देशा है कि युद्ध-प्रवृत्त राष्ट्रों पर शत्रु के वायुवान तुरन्त आक्रमण कर देंगे। ये वायुयान युद्ध की घोषणा होते ही तुरन्त आ धमकेंगे, या शत्रु की बेखबरी से फ़ायदा उठाने के लिए युद्ध के पहले ही आ जायंगे, और बड़े-बड़े शहरों तथा कारखानों पर घोर विस्फोटक बमों की वर्षा कर देंगे। शत्रु के कुछ वायुयान शायद नष्ट भी कर दिये जायं, परन्तु बाक़ी बचे हुए वायुयान शहर पर बम गिराने के लिए काफ़ी होंगे। इन वायुयानों से बरसने वाले बमों में से विषैली गैसें निकर कर चारों ओर फैल जायंगी और उस क्षेत्रभर में छा जायंगी, और जहां तक ये पहुंचेगी वहां तक के सारे जीव दम घुट कर मर जायंगे। इस प्रकार नागरिक जनता का अत्यन्त क्रूरतापूर्ण और कष्टदायक तरीक़ों से बड़े भारी पैमाने पर संहार किया जागगा, जिससे लोगों को असह्य यातना और मानसिक वेदना भुगतनी पड़ेंगी। और सम्भव है कि इस प्रकार की कार्रवाइयां परस्पर युद्ध-प्रवृत्त प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों के बड़े-बड़े शहरों में एक-साथ की जायं। अगर योरप में युद्ध हुआ तो लंदन, पैरिस और बर्लिन कुछ ही दिनों या हफ़्तों के अन्दर शायद सुलगते हुए खंडहरों के ढेर हो जायंगे।

इससे भी ज़्यादा बुरी चीज एक और है। वायुयानों द्वारा गिराये जाने वाले बमों में तरह-तरह के भीषण रोगों के जीवाणु या कीटाणु भी हो सकते हैं, जिससे पूरे-के-पूरे शहरों में इन रोगों की छूत फैल जायगी। इस प्रकार

की "कीटाणु युद्ध-नीति" अन्य तरीक़ों से भी कार्यान्वित की जासकती है: जैसे, खाद्य-पदार्थों और पीने के पानी को रोगाणु-युक्त बनाकर, या रोग-वाहक जन्तुओं का उपयोग करके। इसका उदाहरण चूहा है जो प्लेग के कीटाणुओं का वाहक होता है।

ये सारी बातें राक्षसी और अनहोनी प्रतीत होती हैं, और हैं भी ऐसी ही। कोई राक्षस तक भी ऐसा करना पसन्द नहीं करेगा। परन्तु जब लोग पूर्णतया भयग्रस्त हो जाते हैं और जीवन-मरण की लड़ाई में प्रवृत्त होते हैं, तो अनहोनी घटनाएं भी हो जाती हैं। शत्रु देश द्वारा ऐसे अनुचित और राक्षसी उपायों के अवलम्बन का भय मात्र ही हर देश को पहला वार करने के लिए प्रेरित कर सकता है। क्योंकि ये हथियार इतने भयंकर हैं कि जो देश पहले इनका प्रयोग करेगा वह बहुत फ़ायदे में रहेगा। भय की आंखें बड़ी होती हैं!

विषैली गैस का तो गत महायुद्ध में सचमुच व्यापक प्रयोग किया गया था, और यह बात बहुत लोगों को मालूम है कि सामरिक प्रयोजन के लिए इस गैस को तैयार करने वाले बड़े-बड़े कारखाने तमाम बड़ी-बड़ी शक्तियों के पास मौजूद हैं। इन सब बातों से यह परिणाम निकलता है कि अगले महायुद्ध में असली लड़ाई युद्ध के मोर्चों पर नहीं होगी, जहां कुछ सेनाएं खन्दकों में पड़ी-पड़ी आपस में लड़ती रहेंगी, बल्कि मोर्चों के पीछे शहरों में और नागरिक जनता के घरों में होंगी। यहां तक हो सकता है कि युद्ध काल में सब से सुरक्षित स्थान शायद लड़ाई का मोर्चा ही बन जाय, क्योंकि वहां पर सैनिकों की हवाई हमलों से और विषैली गैसों से और रोगाणुओं से रक्षा का पूरा प्रबन्ध रहेगा! परन्तु पीछे रहने वाले पुरुषों और स्त्रियों और बच्चों के लिए इस प्रकार की रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं होगा।

इस सब का परिणाम क्या होगा? क्या सार्वभौम विनाश? क्या सदियों के प्रयत्नों से निर्मित संस्कृति और सभ्यता के सुन्दर भवन का अन्त?

कोई नहीं जानता कि क्या होने वाला है। भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है, उसे हम नहीं देख सकते। आज हम देखते हैं कि संसार में दो तरह की प्रक्रियाएं चल रही हैं। ये दोनों प्रक्रियाएं प्रतिद्वन्दी तथा परस्पर विरोधी हैं।

एक प्रक्रिया तो सहयोग तथा समझदारी की, उन्नति की और सभ्यता के भवन के निर्माण की है; दूसरी प्रक्रिया विनाशकारी है, प्रत्येक वस्तु को नष्ट-भ्रष्ट करने वाली है, मनुष्य-जाति के द्वारा आत्म-हत्या का प्रयत्न है। दोनों उत्तरोत्तर तीव्र गति से दौड़ रही हैं, दोनों विज्ञान के हथियारों और यंत्रकलाओं से अपने-आप को लैस कर रही हैं। दोनों में जीत किसकी होगी?

'विश्व इतिहास की झलक' से

: २४ :

समाज की स्थिरता और सुरक्षा

दुनिया में ऐसे लोग कभी सुधार नहीं कर सकते जो हमेशा अपनी सुरक्षा की चिन्ता में ही रहते हैं और जो व्यावहारिक बुद्धि को ही अपना आराध्यदेव मानते हैं। जो लोग सुख और आराम की जिन्दगी बसर कर रहे हैं और जिनके पास आवश्यकता से अधिक साधन मौजूद हैं, वे कदापि क्रांति के प्रचारक नहीं हो सकते। संसार में परिवर्तन और विकास की प्रेरणा उन लोगों द्वारा होती है जो दुखी हैं और असन्तुष्ट हैं और जो कि अन्याय और बुराइयों को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं हैं।

किसी समाज का आधार उसकी स्थिरता और सुरक्षा पर होता है। लेकिन आज हमारे देश में कितनों को यह स्थिरता और सुरक्षा प्राप्त है? आप जानते हैं कि करोड़ों जनता इन दोनों चीजों से वञ्चित है। उनको तो पेटभर भोजन प्राप्त होना भी दुर्लभ है, फिर सुरक्षा की बातें करना तो उनका उपहास करना है। जब तक कि मामूली सलामती से भी न रह सके, समाज का स्थिर रहना कठिन है। इसीलिए आप देखते हैं कि दुनिया में एक के पश्चात दूसरी क्रान्ति आती रहती है, इसलिए नहीं कि अमुक व्यक्ति या जन-समुदाय खून-खच्चर या अराजकता का हामी है, बल्कि इसलिए कि अधिक लोग ज्यादा सुरक्षा चाहते हैं। समाज में सच्ची

स्थिरता और सुरक्षा उसी वक्त आ सकती है जब अधिक-से-अधिक जनता का कल्याण हो, न कि छोटे-छोटे विशेष दलों का। हो सकता है कि अभी वह समय नहीं आया है, लेकिन समाज धीरे-धीरे आगे की ओर अवश्य बढ़ रहा है। इस आदर्श की ओर अग्रसर होने के लिए जितनी अधिक जागृति समाज में होगी, और जितना अधिक संग्राम किया जायगा, समाज उतना ही जीवित और प्रगतिशील होगा। यदि किसी समाज से यह प्रेरणा लुप्त हो गई है तो वह समाज तटस्थ और जीवन रहित हो जायगा और वह धीरे-धीरे मुरझा कर नष्ट हो जायगा।

इसलिए जब तक संसार आदर्श स्थिति तक नहीं पहुंच जाता, स्वस्थ समाज में क्रांति का अंकुर अवश्य रहना चाहिए। इसमें कभी क्रान्ति आनी चाहिए और कभी गम्भीरता और विचार। समाज के नवयुवक ही क्रान्ति को लाने वाले होते हैं। वे अन्याय के खिलाफ झंडा उठाते हैं, और रूढिवादी बुजुर्गों को समाज पर अपने विचार लादने और समाज की प्रगति मंद होने से रोकते हैं।

मैं महसूस करता हूं कि सारी बुराइयों की बुनियाद हमारी गलत विचार-धारा है। आर्थिक राजनैतिक वैदेशिक, परतंत्रता बुरी है, लेकिन उससे भी बुरा यह है कि हम विदेशी शासकों के आदर्शों को ठीक मान कर उन्हें स्वीकार करते हैं, जिससे कि हमारी क्रिया-शीलता में शिथिलता आ जाती है। और हम अंधी गली में निरुद्देश्य घूमने लगते हैं, जहां से निकलने का कोई रास्ता नहीं। इसलिए मैं अपनी विचार-धारा यथा सम्भव स्पष्ट कर देना चाहता हूं और अपने दिमाग में लगे हुए सारे मकड़ी के जालों को निकाल देना चाहता हूं। मैं चाहता हूं कि आप भी ऐसा करें। विना सोचे समझे, और अपने ध्येय को स्पष्ट रीति से सामने रखे, यह सोचे विना कि हम इस ध्येय तक कैसे पहुंच सकते हैं, केवल कुछ राजनैतिक वाक्यों को दुहराते रहने से कुछ फायदा नहीं होगा। लेकिन उसके पीछे विचार और विश्वास नहीं है तो व्यर्थ की चीज है। मैं यह ज्यादा जरूरी समझता हूं कि आप संसार की वर्तमान स्थिति का ठीक अंदाजा लगाएं, उसे बेहतर

वनाने की तीव्र इच्छा रखें, और यह जांच करें कि आवश्यकताएं क्या हैं और वे कैसे पूरी की जा सकती हैं। यदि आपको मेरी बातें न जंचें, तो उन्हें छोड़ दीजिये। लेकिन साथ ही, आप उन चीजों को भी स्वीकार न करें चाहे वह परम्परागत हों या सनातन काल से चली आ रहीं हों या धर्म की छाप उनपर लगी हो। यदि आपकी बुद्धि उनको गलत सावित करती हो या वे वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल न हों, क्योंकि जैसा चीनियों का कहना है, "धर्म अनेक हैं, लेकिन बुद्धि एक है।"

आज दुनिया की क्या हालत है? हम देखते हैं कि बहुसंख्या दुखी है। उनके पास न खाने को भोजन है, न पहनने को कपड़े और न उनको विकास के लिए कोई मौका है जब कि मुट्ठी भर लोग ऐसे हैं जो ऐश-आराम की जिन्दगी बसर कर रहे हैं। चारों ओर युद्ध और संघर्ष चल रहे हैं। जो शक्ति बेहतर सामाजिक रचना में लगनी चाहिए थी, वह प्रतिस्पर्धा और पारस्परिक विनाश में लग रही है। जब सारी दुनिया की यह हालत है, तो हमारे जैसे अभागे देश का तो कहना ही क्या? विदेशी हकूमत ने हमारे मुल्क को बिल्कुल मुफ़लिस और दुखी बना दिया है, और रुढि-परायणता तथा पुराने रस्म रिवाज एवं विचारों ने तो उसकी जान ही निकाल दी है।

संसार में निस्सन्देह कोई गड़बड़ है और हमें शक होने लगता है कि इस दुख और अव्यवस्था के पीछे कोई अन्तिम लक्ष्य भी है। २५०० वर्ष पूर्व राजकुमार सिद्धार्थ ने जो वाद को महात्मा बुद्ध बने संसार की इन यातनाओं को देखा था और विह्वल हृदय होकर यह प्रश्न पूछा था, "यह कैसे हो सकता है कि वह ब्रह्मा, जिसने यह संसार रचा इसे दुखी रखे? यदि वह सर्वशक्तिमान होता हुआ भी संसार को इस हालत में रखता है तो इसका अर्थ है कि वह नेक नहीं है। यदि वह सर्वशक्तिमान नहीं, तो वह ईश्वर नहीं है।

यद्यपि यह कहना कठिन है कि संसार का अन्तिम उद्देश्य क्या है, प्रत्येक मनुष्य का तात्कालिक कर्तव्य यह है कि वह संसार के दुखों का भार कुछ

हल्का करे और एक बेहतर समाज-रचना में मदद करे। आदर्श समाज वह है जिसमें एक जाति दूसरी जाति पर या एक मनुष्य दूसरे मनुष्य पर शासन न करे, और प्रतिस्पर्धा की जगह सहयोग हो।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अक्सर आपने घोर विरोध किया है; क्योंकि आप इससे दुखी हैं। लेकिन क्या कभी आपने विचार किया कि यह एक विश्वव्यापी व्यवस्था का रूपांतर है जो कि निस्सन्देह अत्यंत अनुचित और हिंसात्मक है और यह विश्वव्यापी साम्राज्यवाद प्रत्यक्ष प्रमाण है एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का, जो दुनिया के अधिकांश हिस्से में पाया जाता है और जिसे पूंजीवाद कहते हैं ? जबतक साम्राज्यवाद की जड़ें उखाड़कर नहीं फेंक दी जातीं, मुट्ठीभर आदमियों द्वारा मानव-जाति का शोषण और मानवजाति पर अत्याचार समाप्त नहीं होगा। यह हो सकता है कि हममें से कुछ लोग शोषक वर्ग में शामिल हो जायं। लेकिन इससे बहुसंख्या को आजादी नहीं मिल सकती। इसलिए हमारा ध्येय साम्राज्यवाद को समूल नष्ट करना और समाज को नई बुनियाद पर खड़ा होना चाहिए। यह आधार सहयोग पर अवलम्बित होगा, जिसे दूसरे शब्दों में "समाजवाद" कहते हैं। इसलिए हमारे राष्ट्र का आदर्श होना चाहिए 'सहकारी समाजवादी राज्य' की स्थापना।

अपने आदर्श तक पहुंचने के लिए हमें दो किस्म के शत्रुओं से मुकाबला करना है,—एक राजनैतिक, दूसरा सामाजिक। एक ओर हमें विदेशी शासकों पर विजय प्राप्त करनी है और दूसरी ओर सामाजिक प्रतिक्रियावादियों का मुकाबला करना है। पिछले दिनों भारतवर्ष में यह आश्चर्यजनक घटना कई बार देखने में आई है कि राजनैतिक गरम दल के लोग, सामाजिक कामों में प्रतिक्रियावादी होते हैं, और कभी-कभी जो राजनैतिक कामों में नरम दल के हैं, वे सामाजिक कामों में बहुत आगे बढ़े हुए होते हैं। लेकिन राष्ट्र का सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक जीवन अलग-अलग नहीं किया जा सकता। केवल किसी एक भाग की दवा करके समाज के शरीर का रोग अच्छा नहीं

किया जा सकता। यदि समाज के एक हिस्से में ज़रा रह जाता है तो वह दूसरे हिस्सों में भी फैल कर रोग की जड़ को ज्यादा मजबूत कर देता है। इसलिए राजनैतिक और सामाजिक सिद्धान्त आप के सर्वाङ्ग सम्पूर्ण होने चाहिए। और आपके कार्यक्रम में राष्ट्रीय क्रियाशीलता का हरएक अंग शामिल होना चाहिए।

अब इस बात में कोई संदेह नहीं रह गया है कि समाजिक प्रतिक्रियावादी लोग ही प्रायः उन लोगों का साथ देते हैं जो भारत को गुलाम रखना चाहते हैं। पिछले चंद महीनों की घटनाएं इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर देती हैं। आप लोगों ने साईमन कमीशन के बाईकाट करने में शानदार हिस्सा लिया। आपने यह भी देखा कि किस प्रकार कुछ लोगों ने राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध कमीशन को सहयोग दिया। ये लोग कौन थे? इनमें प्रायः प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिकतावादी लोग शामिल थे, जो राष्ट्र के हित के विरुद्ध व्यक्तिगत रियायतें और हक चाहते थे।

पिछले इतिहास में मज़हब के नाम पर जनता की स्वतंत्रता की इच्छा मन्द करने का अक्सर प्रयत्न हुआ। राजाओं और सम्राटों ने धर्म को स्वार्थ सिद्धि का एक साधन मात्र बनाया, जिससे उन्होंने लोगों को बहकाया कि उन्हें शासन करने का ईश्वरीय अधिकार है। पुजारी और अन्य अधिकार प्राप्त वर्ग ने राजाओं के इस अधिकार को ईश्वरीय सिद्ध करने में मदद दी। मज़हब के नाम पर जन साधारण को बतलाया गया है कि उनके दुखों का कारण उनकी किस्मत है या पूर्वजन्म के किये हुए पाप। धर्म के नाम पर स्त्री-जाति को प्रगति करने का अब तक मौका दिया नहीं दिया गया। कई जगह मज़हब के नाम पर पर्दे की जंगली प्रथा उन पर अब भी लादी जा रही है। दलित जातियों को किस प्रकार धर्म के नाम पर कुचला गया है और उन्हें ऊपर उठने का मौका नहीं दिया गया है, यह सर्वविदित है ही। यदि भारतवर्ष में परम्परागत रुढ़ियों का बुद्धिपूर्वक खंडन करने की लहर फैल जाय तो इसका अर्थ है कि सत्तावाद का स्तम्भ ही गिर पड़ता है।

आजकल भारतवर्ष में ही नहीं वल्कि सारे संसार में राजनैतिक और समाजिक विषयों पर वातचीत होती है। इस बारे में दो परस्पर विरोधी विचारधाराएं मौजूद हैं। एक विचारधारा है कि सुधार धीरे-धीरे, और जिन लोगों के हाथ में सत्ता है उनके सहकार द्वारा होना चाहिए। इनका विचार आर्थिक क्षेत्र में पूंजीपतियों और जमींदारों से उनकी स्वेच्छा से सत्ता प्राप्त करना है, और उनका कहना है कि सामाजिक क्षेत्र में सुधार उसी दशा में सम्भव है जव कि अधिकार रखनेवाला दल ही धीरे-धीरे लोप हो जाय। दूसरी विचाधारा क्रांतिकारी है, जिसके अनुसार शीघ्र परिवर्तन होने चाहिए। इस विचारधारा में विश्वास रखनेवालों का खयाल है कि सत्ताधारी उस वक्त तक सत्ता नहीं छोड़ सकते जव तक कि उन्हें मजबूर न किया जाय। रजामंदी हासिल करने की बात ये लोग भी कहते हैं, लेकिन यह रज़ामंदी हारे हुए व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध और जवर-दस्ती होगी।

आजकल इन दोनों परस्पर विरोधी विचारधाराओं म वाजी लगी हुई है। इनमें कौन सी विचारधारा अन्त में विजयी होगी, इस बारे में जरा भी संदेह नहीं है। वहुत हद तक क्रांतिकारी और विकासकारी क्रम साथ-साथ चलते हैं। प्रत्येक क्रांति से पूर्व वहुत कुछ रचनात्मक कार्य किया जाता है। लेकिन दोनों के आदर्शों में वड़ा भेद है, और इसलिए यह आवश्यक है कि आप लोग शुरू में ही अपना रास्ता ढूंढ लें, और फिर अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उस पर जुट जायं।

जब कभी जनता और सरकार की इच्छाओं में टकराहट हो जाती है, तो चाहे जनता कितनी ही शान्त क्यों न हो, सरकार उसका मुकावला दलील से या जायज़ तरीके से नहीं करती; वल्कि पुलिस के डंडे से या संगीन से या गोलियों से या कभी-कभी मार्शल-लॉ लगाकर। मौलिक वात इस स्थिति में संगीन या लाठी होती है। आप ठण्डे फौलाद और सूखी ही हुई लकड़ी का मुकावला जिरह या दलील से कैसे कर सकते हैं? उसके मुकावले के लिए आपको अन्य सावनों का आश्रय लेना पड़ेगा

और ऐसी शक्तियों को पैदा करना होगा जो डंडे या संगीन से अधिक प्रभावशाली हैं।

आप देश की स्वतंत्रता वाली पार्टी को चुनिये और अपना समय और या शक्ति दूसरी पार्टी को करने या अपने पक्ष में लाने में नष्ट न कीजिये आपका हाथ वास्तविकता की नाड़ी पर रहेगा और आपका प्रोग्राम जीता-जागता प्रोग्राम होगा, जिसके पीछे जनता की शक्ति होगी। निस्सन्देह हमें देश की उस गरीब जनता का ही, जिसमें किसान और मजदूर शामिल हैं, पक्ष लेना चाहिए। जन साधारण की आज़ादी का अर्थ है साम्राज्यशाही का अन्त; अन्य दूसरे शोषणों की समाप्ति। इसका अर्थ होगा भारत की स्वतंत्रता और सामाजिक तथा आर्थिक समानता का विचार या समाज की पुनः रचना।

हम सबको भारत की आजादी से प्रेम है। सम्भवतः हममें से बहुत लोग ऐसे होंगे जिन्हें जीवन की साधारण सहूलियतें उपलब्ध हैं और पेट भरने की बहुत ज्यादा चिन्ता नहीं है। किन्तु हमारे असंख्य देशवासी नितान्त दरिद्रता में पड़े हैं, जिनको पेट भर रोटी और तन पर कपड़ा भी नसीब नहीं होता। उनके लिए आज़ादी एक शारीरिक आवश्यकता की वस्तु है। इसलिए हमें आजादी की लड़ाई में इस खयाल से हिस्सा लेना चाहिए कि जन-साधारण को जीवन की मौलिक आवश्यकताएं जैसे रोटी, कपड़ा सुलभ करानी है। हिन्दुस्तान के विषय में सबसे ज्यादा भयानक और आश्चर्यजनक बात यहां की गरीबी ही है। समाज की यह दशा ऐसी नहीं है जो ईश्वर या भाग्य की ओर से पूर्व-संयोजित हो और जिसे हटाया न जा सके। यदि भारत की विदेशी सरकार यहां के कुछ लोगों के साथ मिलकर आवश्यक वस्तुओं को न हथिया लेती और इस प्रकार आप जनता को उनसे वंचित न रखती तो भारतवर्ष के पास इतना धन हो सकता था जो यहां के रहनेवालों के लिए काफी होता। रस्किन ने कहा है, " गरीबी का यह कारण नहीं होता कि गरीब लोगों को प्रकृति ने कुछ घटिया बनाया है या ईश्वर की ऐसी मर्ज़ी है, बल्कि उसका

असल कारण यह है कि बाकी लोगों ने उनकी जेबें कतर डाली हैं।" जब सम्पत्ति पर थोड़े व्यक्तियों का अधिकार हो जाता है तो इससे न सिर्फ आम जनता दुखी रहती है, बल्कि सबसे बड़ी हानि यह होती है कि इससे जनता के दिमाग पर ऐसा असर पड़ता है, जिससे वह आज़ादी की ख्वाहिश तक भी नहीं रखते। यह दृष्टिकोण ही गरीबों और पिछड़े हुओं को अशक्त बना देता है। हमें इसी निराशावादी मनोदशा का मुकाबिला करना है।

आप लोगों ने देश भर में युवक आन्दोलन का श्रीगणेश किया है और एक बहुत मज़बूत और जीवित संस्था को जन्म दिया है। लेकिन याद रखिये संस्थाए मनुष्यों के हाथ खिलौने की तरह हैं। संस्थाएं उसी वक्त शक्तिशाली और प्रगतिशील बनती हैं जब उनके पीछे महान विचारों की शक्ति होती है। सदैव अपने सामने उच्च आदर्श रखो, और अपमान जनक समझौता करके उनको नीचे मत झुकाओ। खेतों और मिलों में काम करनेवाली करोड़ों जनता को अपने ध्यान में रखो। भारतवर्ष की सीमा के बाहर भी जो लोग आपकी भाँति समस्याएं सुलझाने में लगे हुए हैं उनके साथ एकता स्थापित करो। देश के युवक और युवतियों, जहां तक अपनी मातृभूमि को स्वतंत्र कराने का उद्देश्य है, तुम राष्ट्रीय भावना से काम लो, लेकिन साथ-ही-साथ तुम अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा भी रखो, अर्थात विश्व भरके युवकों के साथ मिलकर जाति या राष्ट्र के भेद भाव से ऊपर होकर समस्त संसार को अन्याय और परतंत्रता से बचाओ। एक फ्रेंच ने बहुत वर्ष पहले कहा था, "महान कार्य करने के लिए मनुष्यों को इस प्रकार जीना चाहिए गोया उसे कभी मरना ही नहीं है।" मौत से बच तो कोई भी नहीं सकता, फिर भी युवक उसकी परवाह नहीं करता। बूढे आदमी केवल उतने ही अरसे के लिए काम करते हैं, जितना कि उन्हें जिन्दा रहना बाकी है, लेकिन नौजवान अनन्त काल के लिए कार्य करते हैं।

१९२८

: २५ :

हमारे कर्त्तव्य

छः दिन हुए मैं और मेरे साथी हिन्दुस्तान की हुकूमत की कुर्सियों पर बैठे। इस पुराने मुल्क में एक नई हुकूमत शुरू हुई, जिसका नाम हमने अंतरिम-सरकार रखा और उसको हमने एक ऐसी मंजिल समझा, जहाँ से पूरी आजादी हमको करीब दिखाई दे रही है। हमारे पास दुनिया के हर हिस्से से और हिन्दुस्तान के हर कोने से हजारों पैगाम और सन्देसे मुबारकवाद के आये। लेकिन हमने लोगों के जोश को रोकने की कोशिश की और उनसे कहा कि कोई धूमधाम करने की जरूरत नहीं है। हम चाहते थे कि जनता समझे कि हम अभी सफर ही में हैं और मंजिल तक नहीं पहुँचे। रास्ते में कई मुश्किलें और रुकावटें हैं और ध्येय को प्राप्त करना इतना करीब नहीं है, जितना लोग समझते हैं। ऐसे मौके पर जरा-सी कमजोरी या गफलत भी हमारे काम को बहुत नुकसान पहुँचा सकती है।

जिस आजादी का स्वप्न हमने देखा था और जिसके लिए कई बरस से हमने मुसीबतें झेली थीं, वह सारे हिन्दुस्तान के रहने वालों के लिए थी, किसी एक गिरोह या फिर्के या एक मजहब के लोगों के लिए नहीं। हम चाहते थे कि हिन्दुस्तान को ऐसा स्वराज्य मिले, जिसमें सभी बराबर के हिस्सेदार हों और सभी को मौका मिले कि वे तरक्की कर सकें और ज़िन्दगी से पूरा फ़ायदा उठाएं। तो फिर यह डर, यह एक-दूसरे पर शक और यह आपसका झगड़ा, आखिर क्यों।...

हमें बहुत से तूफानों का सामना करना है और जो हकूमत की नाव है, वह पुरानी और टूटी-फूटी है, बहुत सुस्त चलती है और आजकल के बदलते हुए ज़माने के लिए बिलकुल नामौजूं है। इस नाव को तो बदलना ही पडेगा, लेकिन जहाज कितना ही पुराना हो और उसका कप्तान कैसा

ही कमजोर हो, जब करोड़ों हाथ और दिल मदद करने को तैयार हैं तो हम हर तूफ़ान का सामना कर सकते हैं और भविष्य से डरने की कोई वज़ह नहीं।

आने वाला ज़माना अभी से नज़र आ रहा है और हिन्दुस्तान हज़ार मुश्किलों और मुसीबतों का मुकाबला करके फिर से अपने-आपको पहचानने लगा है। फिर से जवानी की चमक उसके चेहरे पर आने लगी है और उसे अपने ध्येय की सच्चाई और अपनी ताकत पर पूरा भरोसा है। एक ज़माने से वह जकड़ा हुआ था और उसकी आंखों पर पट्टी बंधी हुई थी; लेकिन अब उसकी आंखें खुल गई हैं, वह सारी दुनिया को देख रहा है और दोस्ती का हाथ और कौमों की तरफ बढा रहा है, हालांकि दुनिया अभी तक झगड़ों में फसी हुई है, और अभी तक आसमान लड़ाई के बादलों से साफ नहीं हुआ।

हमारी यही कोशिश रहेगी कि हम अपने देश के मामलों में इस तरह कदम उठाएं जैसे कि आजाद मुल्क उठाते हैं। अंतर्राष्ट्री मामलों में हम क आजाद मुल्क की तरह अपनी नीति पर चलेंगे और किसी और मुल्क के पैरोकार या साए की तरह नहीं चलेंगे। हम चाहते हैं कि और मुल्कों से दोस्ती पैदा करें और उनके साथ मिलकर दुनिया में आज़ादी और अमन फैलाएं। जहां तक हो सकेगा हम उन झगड़ों और गिरोहबन्दियों से दूर रहेंगे जिनकी वजह से लड़ाइयां हुई हैं और आइन्दा होने का डर है। हम समझते हैं कि अमन और आजादी के टुकड़े नहीं हो सकते। अगर एक जगह आजादी नहीं है, तो दूसरी जगह की आजादी भी खतरे में पड़ेगी और झगड़े और लड़ाइयां होंगी। हमें खास तौर से एशिया और अफ्रीका के उन मुल्कों और लोगों से दिलचस्पी है, जो कि गुलाम बनाए गये हैं। हम चाहते हैं कि वे आजाद हों और हर कौम को उन्नति करने का बराबर मौका मिले। हम किसी और पर हकूमत नहीं करना चाहते और न हम औरों के खिलाफ खास हक चाहते हैं। लेकिन जहां-जहां हमारे देश के लोग हों, हम चाहते हैं कि उनके साथ

इज्जत का और बराबरी का बरताव हो। उनकी बेइज्जती हम कभी बर्दाश्त नहीं करेंगे।

आजकल की दुनिया अंदरूनी झगड़ों और दुश्मनी से भरी हुई है, लेकिन फिर भी अबतक मजबूर हो रहे हैं कि वे मिल कर काम करें और आखिर में वह सारी दुनिया की एक आज़ाद हकूमत बनायें। इस एक दुनिया के बनाने में हिन्दुस्तान भी पूरी मदद करेगा।

बावजूद पिछले झगड़ों के हमें उम्मीद है कि आजाद हिन्द इंगलैंड के साथ और ब्रिटिश राष्ट्र संघ के मुल्कों के साथ दोस्ती का रिश्ता रखेगा। लेकिन यह भूल न जाना चाहिए कि इस वक्त इस राष्ट्रसंघ के एक हिस्से में क्या हो रहा है। दक्षिण अफ्रिका में वहां के थोड़े से सफेद लोग हिन्दुस्तानियों पर जुल्म कर रहे हैं और हमारे भाई व बहन बड़ी हिम्मत से इसका मुकाबला कर रहे हैं। अगर ऐसे झगड़े दबाये न गए तो सारी दुनिया में आग लग जायगी।

आजकल की दुनिया के सबसे बड़े और ताकतवर मुल्क अमरीका और रूस हैं। दोनों के ऊपर बड़ी जिम्मेदारी है कि दुनिया को किधर ले जाएं। हम दोनों मुल्कों के रहनेवालों को अपनी शुभ कामनाएं भेजते हैं और उम्मीद करते हैं कि उनसे मिलकर हम अमन और आजादी बढाएंगें।

हम एशिया के रहने वाले हैं, और एशियाई लोग बनिस्बत औरों के हम से ज्यादा करीब हैं। हिन्दुस्तान एशिया के बीच में स्थित है और उसका असर चारों तरफ पड़ता है। पुराने जमाने में उसकी सभ्यता चारों तरफ फ़ैली हुई थी। ये पुराने संबंध फिर से नये हो रहे हैं और इसमें कोई शक नहीं कि एक दिन हिन्दुस्तान फिर अपने पड़ोसी मुल्कों यानी एक तरफ अफगानिस्तान, ईरान और अरब के मुल्कों से और दूसरी तरफ सिलोन, बर्मा, मलाया और इन्डोनेशिया से करीब का रिश्ता जोड़ेगा।

हमारा एक और पड़ोसी यानी चीन का शानदार मुल्क हजारों बरसों से हिन्दुस्तान का दोस्त रहा है और यह दोस्ती आइंदा और बढेगी। हम उम्मीद करते हैं कि उसके आजकल के झगड़े जल्दी खत्म होंगे

और सारे मुल्कों में मिल कर एक लोकतंत्रात्मक हुकूमत कायम होगी।

मुल्क के अन्दर की नीति में हम उन्हीं उसूलों पर चलेंगे जिनको हमने कई साल से अपने सामने रखा है। हम हिन्दुस्तान की आम जनता और भूले हुए लोगों को अपने दिल में जगह देंगे और उनकी तरक्की की कोशिश करेंगे, छूतछात का मुकावला करेंगे और जहां-जहां लोग जवरन दवाये गये हैं, उसको खत्म करेंगे। खास तौर से जो लोग पिछड़े हुए हैं और गरीब हैं, उनकी मदद करेंगे। आज करोड़ों लोग एसे हैं जिनको पेट भर खाना नहीं मिलता, जिनके बदन पर कपड़ा और सर पर छत तक नहीं है, कई भूखे नंगे ऐसे हैं, जो काल की वजह से मौत के दरवाजे पर खड़े हैं। इस भूख और गरीबी का हमें फौरन इलाज करना है और हम उम्मीद करते हैं कि और मुल्क हमारी मदद करेंगे।

ऐसा ही जरूरी काम एक यह भी है कि हिन्दुस्तान में जो इस वक्त आपस में लड़ाई-झगड़े हो रहे हैं, उनकी रोकथाम करें और आपस की फूट को मिटा डालें। हिन्दुस्तान की आजादी का खूवसूरत महल आपस में लड़-झगड़ कर नहीं वनाया जा सकता। आइंदा राजनैतिक फैसले चाहे कुछ भी हों, हम सब को तो साथ-साथ रहना है और एक-दूसरे से मिलकर काम करना है।

हिन्दुस्तान तेजी से आगे वढ रहा है, पुरानी हवा वदल रही है। वरसों तक हम दूसरों के खिलौने वने रहे और वेबस और लाचार दूसरों का मुंह ताकते रहे। अव हमारी बागडोर अपने हाथ में है और यह भी हमारे अपने हाथ में है कि हमारा भविष्य कैसा हो। आइये, हम सब मिलकर इस बड़े और अच्छे काम में एक-दूसरे का हाथ वटाएं और हिन्दुस्तान को दुनिया के मुल्कों में एक वड़ा और शानदार मुल्क वनायें, जोकि इन्सान की तरक्की में सवके आगे हो। आगे वढ़ने का रास्ता खुला है और हमारी किस्मत हमें पुकार रही है। इसमें न किसी एक की जीत है और न किसी की हार। जीतेंगे तो सव जीतेंगे और हारेंगे तो सव हारेंगे। लेकिन हारना

हमको हरगिज नहीं है। हम सब कामयाबी और आजादी की तरफ कदम बढ़ायंगे, पूरी आजादी और स्वराज्य की तरफ—ऐसा स्वराज, जिसमें हिन्दुस्तान के चालीस करोड़ आदमियों को सुख का जीना मिले।

७ सितम्बर, १९४६

: २६ :

स्वतंत्र भारत की जिम्मेदारियां

कई बरस से मुझे हिन्दुस्तान की सेवा करने और हिन्दुस्तान की आजादी की कोशिशों में हिस्सा लेने का सौभाग्य प्राप्त है। आज पहली बार मैं हिन्दुस्तान की जनता के प्रथम सेवक की हैसियत से बोल रहा हूं। मैंने आपकी सेवा और भलाई की शपथ ली है। मैंने आपकी मरजी के मुताबिक यह ओहदा संभाला हैं, और मैं तभी तक इस ओहदे पर रहूंगा जबतक आपका मुझ पर भरोसा रहेगा।

आज हम आजाद और स्वतंत्र हैं, और जो जुआ हमारे कंधों पर रखा हुआ था उसे हमने उतार फेंका है। दुनिया की तरफ से हमारा दिल साफ है। हम सबको दोस्ती की नजर से देखते हैं और आनेवाले जमाने पर हमें पूरा भरोसा है।

विदेशी राज तो खत्म हुआ, लेकिन आजादी अपने साथ अपनी जिम्मेदारियां और बोझ भी लाई है, और इनको कामयाबी से उसी सूरत से उठाया जा सकता है, जब कि हम एक आजाद कौम की तरह सोचें और काम करें—एक ऐसी आजाद कौम जिसको अपने ऊपर पूरी तरह काबू हो और जो अपनी आजादी को कायम रखने और उसे पूर्ण बनाने की कोशिश करे।

हम बहुत कुछ कर चुके हैं, लेकिन अभी हमें और बहुत कुछ करना है। अब हमें चाहिए कि हमारे सामने जो काम हैं उन्हें हम पक्के इरादे से करें

और उन ऊंचे आदर्शों का ध्यान रखें, जो हमारे महान् नेता ने हमारे सामने रखे हैं।....बहुत दिन पहले उन्होंने हमें बतलाया था कि ऊंचे आदर्श और ध्येय-प्राप्तिके तरीके भी वैसे ही होने चाहिए। अच्छे काम अच्छे तरीकों से ही किये जाते हैं। अगर हमारे उद्देश्य बड़े हैं, अगर हम अपने मुल्क को एक ऐसी बड़ी कौम बनाने का सपना देखते हैं जो दूसरों को शान्ति और आजादी का अपना प्राचीन संदेसा सुनाए, तब हमें स्वयं भी बड़ा बनना होगा और अपने आपको भारत-माता का सपूत साबित करना होगा। दुनिया की नजरें हम पर लगी हुई हैं, दुनिया के देश पूरब में आजादी का सूरज निकलता देख रहे हैं और सोचते हैं कि देखिए, अब क्या होता है।

हमारे सामने सब से पहला काम यह है कि मुल्क में आपस के लड़ाई-झगड़ों को खत्म कर दिया जाय; क्योंकि इससे हमारी बड़ी बदनामी होती है और हमारी आजादी को नुकसान पहुंचता है। इन झगड़ों की वजह से हम आम लोगों के बड़े-बड़े आर्थिक मामलों की तरफ ध्यान नहीं दे सकते और यह ऐसे मामले हैं जिन पर हमें फौरन ध्यान देना है।

हमें इस वक्त बहुत-सी गुत्थियां सुलझानी हैं। इनमें से कुछ तो हमारी लम्बे अरसे की गुलामी की वजह से पैदा हुई हैं और कुछ बड़ी लड़ाई और उसके नतीजों की वजह से। आज हमारे देश में लोगों के लिए अनाज, कपड़े और दूसरी जरूरी चीजों का तोड़ा है, रुपये-पैसे की कीमत घट चुकी है, भाव बढ़ रहे हैं। हम इन मामलों को एकदम हल नहीं कर सकते, लेकिन हम इन्हें हल करने में देर भी नहीं कर सकते। इसलिए हमें अच्छी तरह सोच-समझ कर ऐसे तरीके ढूंढ़ने होंगे, जिनसे आम लोगों की तकलीफें कम हो जायं और उनका रहन-सहन अच्छा हो सके। हम किसी की बुराई नहीं चाहते, लेकिन यह बात साफ तौर पर समझ लेनी चाहिए कि हमें सब से पहले उन लोगों का खयाल करना है जो बहुत दिनों से दुख उठा रहे हैं, और किसीको इस काम के रास्ते में रुकावट बनने नहीं दिया जायेगा।

हमें लगानदारी के पुराने तरीके को फौरन बदलना होगा। हमें ठीक-ठीक तरीकों से कारखानों और उद्योग-धंधों को बढ़ाना होगा, ताकि

देश की दौलत बढ़े और देश के धन को मुनासिब ढंग से बांटा जाय।

आज सबसे पहले इस बात की जरूरत है कि पैदावार बढ़ाई जाय। यह याद रखना चाहिए कि पैदावार बढ़ाने की कोशिश में रुकावट डालने से देश को और खासकर मजदूरों को नुकसान पहुंचेगा। लेकिन खाली पैदावार बढ़ाना ही काफी नहीं, क्योंकि बहुत मुमकिन है कि इस तरह और ज्यादा दौलत चन्द आदमियों के पास ही इकट्ठी हो जाय। ऐसा होने से तरक्की के रास्ते में रुकावट पड़ती है और झगड़े पैदा हो जाते हैं। इसलिए इन गुत्थियों का यही हल है कि दौलत मुनासिब तौर पर बांटी जाय।

भारत-सरकार ने नदियों के वहाव को काबू में रखने, बंद, तालाब और नहरें वगैरा बनाने और पानी से बिजली बनाने की बड़ी-बड़ी योजनाएं बना रखी हैं, ताकि नदियों की घाटियां तरक्की कर सकें। इन योजनाओं से अनाज की पैदावार बढ़ जायगी, कारखाने तरक्की करेंगे, और लोगों की आम हालत बेहतर हो जायगी, हमारे सारे नए प्रोग्राम इन स्कीमों की बुनियाद पर हैं और हम इन स्कीमों को जल्द-से-जल्द पूरा करना चाहते हैं, ताकि आम लोगों को फायदा पहुंचे। इन बातों के लिए शांति की जरूरत है। इस बात की भी जरूरत है कि सब लोग मिल-जुल कर मेहनत से लगातार काम करें। हमें आपस के झगड़ों को भूल कर इन बड़े-बड़े कामों में लगना चाहिए। झगड़ों का भी एक वक्त होता है, लेकिन एक समय ऐसा भी होता है जब कि सबको मिल-जुल कर काम करना चाहिए। काम का समय अलग है और खेल का समय अलग। आज झगड़े का वक्त नहीं और न ही खेल-कूद को ज्यादा वक्त दिया जा सकता है; वरना हम अपने देश और अपने लोगों के सामने झूठे बनेंगे। आज हमें एक-दूसरे का साथ देना चाहिए और मिल-जुल कर और दिल लगाकर काम करना चाहिए।

मैं देश की फौजी और सिवल सर्विसों से भी कुछ बातें कहना चाहता हूं। पुराने भेद और फर्क अब जाते रहे हैं। आज हम सब हिन्द के आजाद सपूत हैं, हमें अपने देश की आजादी पर गौरव है और हम देश की सेवा के लिए इकट्ठे हो रहे हैं। हम सब हिन्दुस्तान के वफादार हैं, आने

वाले कठिन वक्त में हमारी सर्विसों और विशेषज्ञों को बहुत महत्वपूर्ण काम करने हैं। हम उनसे कहते हैं कि वह आयें और हमारे साथ मिल कर देश की सेवा करें।

अगस्त, १९४७

: २७ :

सार्वभौमिक व्यवस्था

'हेरल्ड ट्रिब्यून फोरम' एक ऐसे विषय की चरचा कर रहा है जो आज की दुनिया के लिए ही नहीं, बल्कि कल की दुनिया के लिए भी विशेष रूप से उपयोगी है। संसार की समस्याएं एक दूसरे पर निर्भर हैं। यह ऐसा सत्य है, जो हर विचारशील मनुष्य के लिए स्पष्ट है और अगर हम इसे अपनी नज़र से हटादें तो उससे खतरा हमीं को पहुंचेगा। एक समस्या का भी समझना अधिकाधिक मुश्किल होता जा रहा है जब तक हम उसे सारे संसार की समस्याओं को पीछे रखकर न सोचें। संसार की समस्याओं के एक दूसरे पर निर्भर होने का अर्थ यह है कि दुनिया के अनेक भाग एक दूसरे पर निर्भर हैं। कोई देश अपने को दूसरे देशों से पृथक नहीं कर सकता और कोई एक देश दुनिया की शान्ति और युद्ध की समस्या का अकेला हल नहीं कर सकता। हल उसी समय होगा जब दुनिया के पैमाने पर अधिकाधिक सहयोग प्राप्त हो। और इस प्रकार हम अनिवार्य रूप से सार्वभौमिक सरकार और सार्वभौमिक व्यवस्था की ओर आगे कदम बढ़ाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि सार्वभौमिक सरकार एक-न-एक दिन कायम होगी, क्योंकि अगर यह न हुई तो संसार आत्मघात कर लेगा। इस सार्वभौमिक व्यवस्था की ओर बढने की बजाय चाहे धीरे ही क्यों न बढें हम सारे संसार में प्रतिद्वन्द्विता और खिंचाव देख रहे हैं। इन दोनों शक्तिशाली प्रेरणाओं के अन्त में कौन विजयी होगा, यही अनेक पुश्तों तक के लिए दुनिया की किस्मत का फैसला करने वाला है।

मुझे जरा भी सन्देह नहीं कि अन्त में सार्वभौमिक व्यवस्था कायम हो जायगी, चाहे इसमें कुछ समय लग जाय; क्योंकि अभीतक मनुष्य का मन इस बात से काफी परिचित नहीं हुआ है। आर्थिक क्षेत्र में यह परस्पर-निर्भरता आज साफ दिखाई दे रही है और दुनिया में खिचाव होते हुए भी, पारस्परिक सहयोग की ओर मजबूत झुकाव पाया जाता है। यह कहना मुश्किल है कि इस सार्वभौमिक व्यवस्था की रूपरेखा क्या होगी। हमें दृढता से और साथ-ही-साथ एहतियात से आगे कदम बढाना है इसके रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट मानसिक है और हमें इसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि सबसे पहले हम भय की मनो-दशा दूर करें जो इस समय संसार में व्याप्त हो रही है, और जनता में सद्भावना को प्रोत्साहन दें।

भारत अपनी पूरी शक्ति भर इसमें मदद देगा। हमारी राष्ट्रीयता की बुनियाद में सदासे सार्वभौमिक व्यवस्था और अन्तरराष्ट्रीय सहयोग का विचार मौजूद रहा है। मुझे आशा है कि दुनिया की उन्नतिशील शक्तियां इस महान कार्य को सफल बनावेंगी जो हमारे सामने है और उसमें सहयोग करेंगी।

न्यूयार्क (अमेरिका)
२६ अक्तूबर, १९४९

: २८ :

भारत और पाकिस्तान की समस्याएं

मैं भारत और पाकिस्तान के बीच अनेक विषयों के सम्बन्ध में आज की स्थिति स्पष्ट करना चाहता हूं। आप जानते हैं कि भारत ने यह प्रस्ताव पेश किया था कि दोनों देश इस बात की घोषणा करें कि हम "युद्ध नहीं करेंगे"। ऐसा करके भारत ने यह प्रकट किया था कि इन देशों के बीच

आज या भविष्य में अगर कोई झगड़ा हो तो उसके लिए युद्ध करना दोनों देश निन्दनीय समझते हैं । इसके अलावा यह भी निश्चय हुआ था कि इन दोनों देशों के बीच ऐसे झगड़ों का निपटारा माने हुए शान्तिपूर्ण ढंग से किया जाय अर्थात आपस में बातचीत करके या किसी दूसरे दल को बीच में डालकर या किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा, जिसे दोनों देश मानें, आपसी झगड़ों का निपटारा करना चाहिए। इस विषय में दोनों देशों में काफी चिट्ठी-पत्री हो चुकी है। पाकिस्तान का यह दृष्टिकोण रहा है कि वे समझते हैं कि इस प्रकार की कोई भी घोषणा एक गोल-सी चीज होगी। पाकिस्तान चाहता है कि इसके लिए एक निश्चित कार्य-प्रणाली तय करली जाय। हरएक काम के लिए समय निर्धारित हो जाय और उसके अनुसार मौजूदा या भविष्य में झगड़े तय हों। हम लोगों ने यह बताया कि अनेक प्रकार के झगड़ों के लिए एक ही किस्म की कार्यवाही या ढंग तय कर लेना उचित न होगा; क्योंकि कुछ ऐसे हैं जिनमें निर्णय नहीं हो सकता है और अगर हमने कोई निश्चित करने का कार्यक्रम पक्की किस्म का बना लिया तो मुमकिन है कि समय के अन्दर किसी कारण से काम न हो सके। उस हालत में हमारा उद्देश्य ही नाकाम हो जायगा।

हमने एक आम घोषणा का प्रस्ताव तो किया ही था, उसके अलावा हमने दो बड़े विवादात्मक प्रश्नों को सुलझाने के लिए विशेष प्रस्ताव किया था अर्थात् निकासी जायदाद और पानी के सम्बन्ध में। हमने कहा था कि एक ट्रिब्युनल बनाया जाय जिसमें दो जज भारत के और दो पाकिस्तान के हों और ये ऊंची श्रेणी के जज हों। ये लोग इन दो झगड़ों को तय कर दें और हम लोग उनके निर्णयों को मानने के लिए बाध्य हों।

हमने भी यह प्रस्ताव किया था कि यह ट्रिब्यूनल दूसरे मौजूदा या भविष्य के झगड़ों पर विचार कर सकता है जिनके बारे में समझा जाय कि समझौता हो सकता है। जाहिर है कि राजनैतिक किस्म के ऐसे झगड़े जो अदालती क्षेत्र से बाहर के हैं इस ट्रिब्युनल के सामने पेश नहीं हो सकते हैं।

इस समय भारत और पाकिस्तान के बीच में चार बड़े विवादात्मक प्रश्न हैं। काश्मीर, निकासी की जायदाद, नहर का पानी और विनिमय की दर। काश्मीर का प्रश्न इस ट्रिब्यूनल द्वारा तय नहीं हो सकता है। यह प्रश्न इस समय सुरक्षा परिषद के सामने है। विनिमय दर का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय मानेटरी फन्ड के पास है और हमें आशा है कि ये लोग शीघ्र ही किसी निर्णय पर पहुंच जायंगे। हम निकासी की जायदाद और नहर के पानी इन दो प्रश्नों को संयुक्त ट्रिब्यूनल के सामने पेश करने की तजवीज कर चुके हैं, और इस ट्रिब्यूनल के सामने भविष्य के वे झगड़े भी पेश किये जा सकते हैं, जो इसी प्रकार के हों।

यह कहा गया है कि सम्भव है कि यह ट्रिब्यूनल किसी निश्चय तक न पहुंच सके, क्योंकि हो सकता है कि न्यायाधीश अपने मत में बराबर बराबर बट जायं। पर हमें इस बात की आशा है कि उच्च श्रेणी के न्यायाधीशों के सामने जो प्रश्न रक्खें जायंगे उन पर वे बिलकुल निष्पक्ष भाव से विचार करेंगे और ज्यादातर सहमत होगें। अगर इनमें एक मत नहीं होता तो दोनों सरकारें स्वयं मिलजुलकर कोई समझौता कर लें या कोई दूसरा तरीका इन झगड़ों को तय करने का निकालें।

मुझे नहीं मालूम कि किन्हीं दो स्वतंत्र राष्ट्रों ने अपने झगड़ों के तय करने के लिए इससे बेहतर कोई दूसरा तरीका निकाला हो। हमारा प्रस्ताव साफ-साफ व्यावहारिक है और समझदारी का है। अगर यह मंजूर हो जाता है तो इससे भारत और पाकिस्तान के बीच इस समय जो खिंचाव पाया जाता है वह जाता रहेगा।

१६ अक्तूबर, १९५०

: २९ :

भारत की वैदेशिक नीति

यहां मैं भारत की वैदेशिक नीति के बारे में कुछ कहूंगा। मेरा यक़ीन है कि देश के बहुत से लोगों ने इस नीति को पसंद किया है और उसके लिए

सफाई देने की जरूरत नहीं है। इस नीति का आधार है हमारा विदेशी मामलों में पुराना दृष्टिकोण और हमारी आजादी । हमने कोई लम्वा-चौड़ा रास्ता अख्तियार नहीं किया है और सभी देशों के साथ दोस्ती के सम्बन्ध पैदा करने की कोशिश की है। मुझे यह कहते खुशी होती है कि उन झगड़ों के बावजूद जो कि बराबर दुनिया को हैरान कर रहे हैं, एक देश को छोड़कर बाकी सबके साथ हमारे सम्बन्ध दोस्ती के रहे हैं। अपने छोटे-मोटे तरीके से हमने अपना वजन शान्ति के पक्ष में डाला है और फौजी या वैसे बंधनों से अपने को अलग रखने का प्रयत्न किया है। स्वाभाविक है कि ऐसी नीति की अक्सर आलोचना हो, फिर भी दुनियाभर में इस मामले में हमारी सचाई और हमारी नीति की अच्छाई की तारीफ ही हुई है, हालांकि वह बहुत से देशों की इच्छाओं के अनुरूप नहीं है।

पूर्व के देशों से खासकर हमारे पड़ोसी देशों से—बदकिस्मती से एक को छोड़कर—हमारे सम्बन्ध बहुत ही दोस्ताना और सहयोग के रहे हैं। जाहिर है कि आजादी आने के बाद से हमारी राजनैतिक दिलचस्पी का आकर्षण विन्दु हमारे पड़ौसी देशों और एशिया पर केन्द्रित हो गया है। हमारी वैदेशिक सर्विस इन वर्षों में तेजी से बढ़ गई है। हमने उसे बढ़ने से रोका है; लेकिन महज इस बात से कि मौजूदा दुनिया में हिन्दुस्तान की बहुत अहमियत हो गई है और दूसरे देश चाहते हैं कि हिन्दुस्तान के साथ उनके कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हों, हमें लाचार होकर विदेशी सर्विसों को बढाना पड़ा है। ऐसी हालत में यह स्वाभाविक ही था कि सर्विसों का यह विस्तार सब जगह यकसां न हो। और जरूरी है कि अनुभव और परम्पराओं के विकास में कुछ देर लगे। अपने मिशन में हमें कठिनाइयों और मुसीबतों का सामना करना पड़ा है; लेकिन कुल मिलाकर हमारी विदेशी सर्विसों ने अच्छा काम किया है और विदेशियों ने उनके काम की कद्र की है, खासकर इस मुसीवत के समय में हमारे प्रतिनिधियों ने प्रमुख राजधानियों में अपना काम बड़ी होशियारी के साथ किया है और हमारे देश का नाम ऊंचा किया है।

कांग्रेस ने वार-बार हमारी वैदेशिक नीति को स्वीकार किया है। फिर भी यह जरूरी है कि इस देश या दूसरे देशों के लोगों के दिमागों में इस वारे में कोई संदेह न रहे कि यहां-वहां कुछ आलोचना के वावजूद इस नीति के पीछे हमारे वहुसंख्यक लोगों की इच्छा है। अपनी वैदेशिक नीति को अगर मजवूती से चलाना है तो जहां तक मुमकिन हो, सारे राष्ट्र को मजबूत और संगठित आवाज में वोलना है।

हिन्दुस्तान के गणतंत्र वन जाने पर भी, उसकी हैसियत के अनुसार राष्ट्रमंडल (कामनवेल्थ) के साथ हमने अपना सम्बन्ध वनाये रखने का निश्चय किया है। पुराने दिनों की वुनियाद पर, भावनात्मक कारणों से, हमारे कुछ देशवासियों ने इसका विरोध किया है; लेकिन मेरा पक्का विश्वास है कि यह एक सही क़दम था। विलकुल साफ है और घटनाओं ने भी इस वात को दिखा दिया है कि इससे पूर्ण स्वतंत्रता में किसी प्रकार या किसी हद तक जरा भी अंतर नहीं पड़ा। इससे हमें पिछले दिनों में मदद मिली है और दुनिया के विस्तृत क्षेत्र में हिन्दुस्तान का प्रभाव पड़ा है। इसलिए मैं सोचता हूं कि ये संपर्क कायम रहने चाहिए।

वद किस्मती से जिस जनून और उखाड़-पछाड़ से इस देश का वटवारा हुआ वे खत्म नहीं हुए और वाद की घटनाओं ने उन्हें और उभार दिया। कहा जाता है कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के सहकारिता के सम्बन्धों के रास्ते में वुनियादी कठिनाई काश्मीर की है। यह कहना ज्यादा सही होगा कि काश्मीर की समस्या दोनों देशों के वीच वुनियादी अंदरूनी झगड़ों से उपजी है। हिन्दुस्तान धर्म-निरपेक्ष राज्य का समर्थक है और अपने अंगभूत हिस्सों के स्वतंत्र रहने का पक्षपाती है। लेकिन पाकिस्तान साम्प्रदायिक राज्य है, और अपने उद्देश्यों और विचारधारा के कारण अपने दृष्टिकोण में आक्रामक है। आज की दुनिया में ऐसी विचारधारा अजीव-सी लगती है, और ऐसे किसी आधुनिक राज्य की कल्पना करना भी मुश्किल है, जो कि अपने वहुसंख्यक नागरिकों को यह महसूस कराता हो कि वे हीन हैं और उनके साथ वरावरी का वर्ताव नहीं किया जा सकता।

हिन्दुस्तान में कुछ ऐसे लोग हैं जो अपनी मूर्खता और विवेकहीनता के कारण उसी साम्प्रदायिक नीति को वरत रहे हैं जो पाकिस्तान में वरती जा रही है। ऐसा करके वे पाकिस्तान की नीति को ही मदद पहुंचा रहे हैं और भारतीय राज्य की वुनियादी मान्यता को कमजोर कर रहे हैं ऐसे लोगों ने यहां तक कहा है कि वे वटवारे को खत्म कर देना चाहते हैं। यह मूर्खता की पराकाष्ठा है। सौभाग्य से ऐसे लोगों की संख्या कम है और उनका कोई खास असर भी नहीं है। और हमारे राज्य की नीति और हमारे ज्यादातर आदमियों की इच्छाएं इस विषय में विल्कुल स्पष्ट हैं। वटवारे को खत्म करने की हमारी कोई ख्वाहिश नहीं है, क्योंकि उससे सवके लिए भारी मुसीवत हो जायगी। यह वात वार-वार कह दी गई है और फिर स्पष्ट कर दी जानी चाहिए, जिससे इसके सम्वन्ध में जरा भी संदेह न रहे।

पाकिस्तान में राज्य की नीति पुराने दो-राष्ट्र-सिद्धान्त को मानती है और उसी तंग साम्प्रदायिकता का प्रतिनिधित्व करती है, जिसका कि पुरानी मुस्लिम लीग करती थी। हमारी कोई इच्छा नहीं है कि हम पाकिस्तान के भीतरी काम-काज में दखल दें; लेकिन इसका पाकिस्तान में लाखों आदमियों पर और परोक्ष रूप से हिन्दुस्तान पर जो असर पड़ रहा है उसको भी दरगुजर नहीं कर सकते। यह फूट डालनेवाली और झगड़ा पैदा करने वाली नीति है।

पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी वंगाल में सन् ५० के शुरूमें वड़ी गम्भीर स्थिति पैदा हुई। खुशकिस्मती से पाकिस्तान के प्रधान मंत्री के साथ जो समझौता हुआ उससे उस तात्कालिक संकट को टालने में वड़ी मदद मिली। वुनियादी समस्या का वह कोई हल न था; लेकिन लाखों आदमियों को उससे राहत मिली और वहुत से लोग अपने पुराने घरों को लौट गए। फिर भी एक वात वनी ही रहती है, और वह यह की पूर्वी पाकिस्तान में अल्पसंख्यक जमातों की स्थिति वड़ी कठिनाई की है। शिक्षा, व्यापार और व्यवसाय की रीढ़ मध्यम वर्ग के लोग वहां से लगभग निकाल

बाहर कर दिये गए और जो बचे, वे अपने भविष्य के बारे में बहुत भयभीत हैं।

काश्मीर को ग़लती से हिन्दुस्तान या पाकिस्तान के लिए एक लूट-खसोट की चीज़ मान लिया गया है। लोग यह भूल गये दीखते हैं कि काश्मीर बिक्री या सौदे की चीज़ नहीं है। उसकी अपनी अलग हैसियत है और उसके भविष्य का फैसला करने वाले उसके लोग ही होंगे। आज संघर्ष चल रहा है—लड़ाई के मैदान में नहीं, बल्कि लोगों के दिमागों में। यह संघर्ष बटवारे से बहुत बरस पहले शुरू हुआ था। ज्योंही हिन्दुस्तान में मुस्लिम लीग के नेतृत्व में साम्प्रदायिक आन्दोलन बढा और दो-राष्ट्र का सिद्धान्त जन्मा, त्यों ही उस सिद्धान्त के समर्थकों ने काश्मीर की सुन्दर घाटी को हड़प लेने की कोशिश की। वे नाकाम रहे और तब काश्मीर में मजबूत राष्ट्रीय अंदोलन पैदा हुआ, जिसकी एक निश्चित विचारधारा थी और जो सामाजिक रूप से बहुत आगे बढी हुई थी। काश्मीर की नैशनल कान्फ्रेंस ने इस आंदोलन का नेतृत्व किया और उसे भारतीय कांग्रेस तथा देशी राज्य प्रजा परिषद् के आंदोलनों के साथ बहुत सी बातों में एक-रूपता दिखाई दी। इसलिए सन्' ३० और ४० के वर्षों में बिना इस विचार के कि हम हिन्दू हैं या मुसलमान, सिख हैं या और कोई समान आदर्श की शृंखला और समान ध्येय में संगी-साथी के बंधन ने हमें एक-दूसरे से बांध दिया। इसलिए स्वाभाविक था कि काश्मीर के लोग पाकिस्तान की संकीर्ण साम्प्रदायिकता का मुकाबला करते जो कि उन पर हिंसा और ताकत के जोर पर लादी जा रही थी। हिन्दुस्तान के लोगों के लिए स्वाभाविक और अनिवार्य था कि वे तकलीफ में उनका साथ देते।

इस सम्बन्ध में हमारा दिमाग कुदरतन जाता है, उस सपूत की तरफ जिसे हिन्दुस्तान ने पैदा किया—हमारी आजादी की लड़ाई का एक बड़ा नेता जिसने इस लड़ाई के लिए और सामान्य आदमियों की सेवा के लिए अपना जीवन ही समर्पित कर दिया। यह आदमी है—अब्दुल ग़फ़ार ख़ाँ। वह और उनके बहादुर साथी पाकिस्तान की जेल में साल-पर-साल अपनी

जिन्दगी बिता रहे हैं, हालांकि यह कहा जाता है कि उनका देश आजाद हो गया है। यह एक न सिर्फ महत्त्व की बात है कि बल्कि इस बात का प्रतीक भी है कि पाकिस्तान में बहादुर और आजादी से प्रेम करने वाले लोगों को किस तरह की स्वतंत्रता मिलने वाली है।

इसलिए हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच दोस्ताना सम्बन्धों के रास्ते में काश्मीर नहीं, बल्कि एक बहुत गहरा झगड़ा आजाता है। हम उन बुनियादी आदर्शों को नहीं छोड़ सकते, जिनको की अबतक मजबूती से पकड़े रहे हैं और जिनपर हमारे राज्य की सारी मान्यता स्थापित है। हम ऐसी किसी चीज को प्रोत्साहन नहीं दे सकते जो कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न करती हो। हम फूट और आक्रमण की पुरानी नीति को जारी रखने के लिए तैयार नहीं हो सकते। इस बात को साफ-साफ समझ लेना चाहिए। पाकिस्तान के साथ दोस्ती के सम्बन्धों की आवश्यकता को हमने महसूस किया है और हम उसके लिए बराबर कोशिश करेंगे, लेकिन वह दोस्ती तभी कायम हो सकती है जब कि पाकिस्तान आक्रमण की भावना को छोड़ दे।

जुलाई, १९५१

: ३० :

पंचवर्षीय योजना

प्लानिंग कमीशनने पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा तैयार की है। इस योजना में चमत्कार की कोई बात नहीं है। न तो हमने वर्तमान और भविष्य के बारे में कोई सब्जबाग दिखाया है और न वैसी कोई आदर्शवादी तस्वीर ही खींची है। फिर भी मेरा विचार है कि यह योजना बड़े महत्त्व की है। हमारे संविधान की मर्यादाओं में तथा मौजूदा सामाजिक और आर्थिक ढांचे को बिना छिन्न-भिन्न किये जो साधन हमें मिल सकते

उन्हींकी मदद से जो कुछ किया जा सकता है उसीका हमने एक वास्तविक विवरण उपस्थित किया है। इस योजना ने एक महत्त्वपूर्ण सेवा यथार्थ रूप में यह बता कर की है कि अगर हम अपना दिल और दिमाग लगावें तो क्या कर सकते हैं और वर्तमान परिस्थितियों में क्या करना हमारे लिए मुमकिन नहीं है। हमें याद रखना चाहिए कि कोई भी प्रगति महज इसी बात से नहीं हो जाती कि हम उसे करना चाहते हैं। हमारे उद्देश्यों, हमारी बड़ी-बड़ी उम्मीदों और हमारी कल्पनाओं का यदि ठोस वास्तविकता से कोई संबंध नहीं है तो वे हवाई किले की तरह रह जाती हैं और उससे हम भ्रम में पड़ जाते हैं। यह योजना लोगों को न सिर्फ उद्देश्यों की बाबत, बल्कि यह सोचने को भी बाध्य करती है कि वे उन उद्देश्यों को कैसे प्राप्त कर सकते हैं, और हमारे साधन क्या हैं। लोगों के विचार कुछ भी हों, मेरा खयाल है कि आगे की निस्बत सोचना या योजना तैयार करना बहुत कुछ इस पंचवर्षीय योजना पर ही निर्भर करता है।

भविष्य-निर्माण के लिए एकमात्र तरीका यह है कि हम हर साल कुछ-न-कुछ बचावें और उसे किसी-न-किसी किस्म की प्रगति करने में लगावें। उससे खेती की उन्नति की जा सकती है, अधिक नदियों के बांध बांधे जा सकते हैं, ज्यादा कारखाने और मकान तैयार किये जा सकते हैं, अधिक शिक्षा और स्वास्थ्य के साधन जुटाये जा सकते हैं। हमारे साधन सीमित हैं और अधिक-से-अधिक जो कुछ हम बचाने की आशा करते हैं, उसका निर्देश इस योजना में किया गया है। चूंकि हमारे साधन सीमित हैं इसलिए हमें समय-समय पर चीजों के बीच चुनाव करना पड़ता है और देखना पड़ता है कि कौनसी चीज सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। कभी-कभी हमें नदियों के बांधों की योजना, मकान और स्कूल, इनके बीच चुनाव करना पड़ता है। दुर्भाग्य से, जो हम चाहते हैं, वह सब एक साथ नहीं हो सकता। इस योजना में उन चीजों की सिफारिश की गई है, जिनको हमें पहले करना है। यह ठीक है कि इसमें बहुत सी चीजें एक साथ ले ली

गई हैं, लेकिन वे हमारे 'साधनों एवं सामाजिक व राजनैतिक हालतों और संविधान की सीमा से परे नहीं हैं। इस प्रकार हमें अपने दिमागों का वास्तविकताओं से मेल साधना है।

हमारी मर्यादाएं काफी हैं, लेकिन उनसे हमें डरना नहीं चाहिए। उनसे संघर्ष करके ही हम जान सकते हैं कि वे किस तरीके की हैं। शायद हमें यह भी दिखाई दे कि हमारी सीमाएं इतनी अधिक हैं कि हर तरह की कोशिश के बावजूद हमारी रफ़्तार बहुत धीमी है। तब हम सोचेंगे कि उन सीमाओं में से कुछ को, जिनमें हमें फिलहाल काम करना पड़ता है, कैसे दूर कर सकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि अपने आर्थिक ढांचे में बुनियादी तब्दीली करने के लिए विचार करने को हमें मजबूर होना पड़ेगा।

हमारी नदियों का बहुत-सा पानी बेकार चला जाता है, जब कि हमें पानी की दूसरी जगह पर आवश्यकता होती है। हम बांध बांधते हैं, तालाब बनाते हैं, जिससे इस पानी का ज्यादा-से-ज्यादा फायदा उठा सकें और अपनी जमीन की सिंचाई करलें व बिजली वगैरा पैदा कर लें। इसी प्रकार आलस्य और बेकारी में जो समय बर्बाद हो जाता है उसे बचाने के लिए हमें सोचना है, जिससे कि हम इस बचे हुए वक्त को किसी क्रियात्मक प्रयत्न और राष्ट्र की संपत्ति के बढ़ाने में लगा सकें। यह बड़े दुःख की बात है कि ऐसे समय में जबकि अधिक उपज की आवश्यकता है, बहुत से लोग बेकार बैठे हैं।

हम कोई भी योजना बनायें, उसकी सफलता की क़सौटी यह है कि उससे कहां तक हमारे उन करोड़ों लोगों को राहत पहुंचती है, जो कि मुश्किल से अपना पेट भर पाते हैं। मतलब, उससे कहां तक हमारी जनता का फायदा और तरक्की होती है। इस कसौटी के सामने और बातें गौण होनी चाहिए। हमारे संविधान में सही तौर पर इस बात पर जोर दिया गया है कि हम अपनी दलित जातियों, आदिवासियों तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए अन्य वर्गों को ऊपर उठावें। यह कर्त्तव्य उन्हीं लोगों के

प्रति नहीं है, बल्कि राष्ट्र के प्रति भी है; क्योंकि ऐसा करके ही हम अपने लोगों का सामान्य स्तर ऊंचा कर सकते हैं। हमें यह दुर्भाग्यपूर्ण बात याद रखनी चाहिए कि आर्थिक दृष्टि से हमारे शायद आठ प्रतिशत लोग पिछड़ी जातियां कही जाती हैं।

इस प्रकार गरीबी और बेकारी के खिलाफ लड़ाई और लोगों की आर्थिक उन्नति, ये हमारे लिए महत्त्वपूर्ण उद्देश्य बन जाते हैं। हमारी राजनैतिक आजादी के बाद हमारी यात्रा की यह दूसरी अहम मंजिल है। यह मंजिल हम सामाजिक और आर्थिक योजना बनाकर ही तय कर सकते हैं, जिससे कि हमारे साधनों का इस्तेमाल ज्यादा-से-ज्यादा फायदे के लिए हो सके और वे साधन यथासंभव तेजी से बढ़ाये जा सकें। इस मंजिल को हम भवितव्यता या निजी प्रयत्नों के मनमानेपन अथवा स्वार्थभावना के भरोसे छोड़कर पार नहीं कर सकते। पिछली लड़ाई और उसके बाद इस देश में हमें समाज-विरोधी प्रवृत्तियों के रूपमें काफी दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा है। उसका मुकाबला अब हमें सुसंगठित आधार पर तथा जहां जरूरी हो वहां नियंत्रण करके करना है। नियंत्रण कोई भी पसन्द नहीं करता, लेकिन जब लोगों की संग्रहवृत्ति सार्वजनिक हित को नुकसान पहुंचाती है तो कुछ चीजों पर अंकुश जरूरी हो जाता है। इसलिए निजी प्रयत्न राष्ट्रीय योजनाओं के सांचे में ढलने चाहिए। उन्हें प्रोत्साहन दिया जा सकता है, लेकिन केवल उस सांचे के अंदर ही। सांचे से बाहर जाते ही सारी योजना बिगड़ जाती है।

अक्तूबर, १९५१

: ३१ :

सामुदायिक योजना

मेरी राय में इस समय देश के सामने कोई भी इतना बड़ा काम नहीं है, जितना कि आप शुरू करने जा रहे हैं। मैं उम्मीद करता हूं कि आप

इस बात को हमेशा याद रखेंगे कि इसी काम के द्वारा हम लोगों को देश को आगे बढाना है और यहां के ३५ करोड़ आदमियों को अच्छा जीवन बिताने के लिए व्यवस्था करनी है।

योजना-आफीसरों (कम्यूनिटी प्रोजैक्ट आफीसर्स) ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण काम को शुरू किया है। इस योजना के पीछे जो विचार है वह एक बीज की तरह है। इस बीज में से कल्ला फूटेगा और अंत में वह एक विशाल वृक्ष के रूप में विकसित होगा, जिसकी छाया में इस देश के लाखों व्यक्ति आश्रय ले सकेंगे। योजना आफिसरों को इस कार्य के महत्त्व को समझ लेना चाहिए। उसका अर्थ है इस देश के गरीब आदमियों की उन्नति, न कि किसी एक व्यक्ति के लिए अच्छा अवसर। इस योजना के द्वारा गरीबी और बेकारी का बोझ लोगों के कन्धों से हटा दिया जायगा। केवल कानून पास करके पार्लमेंट गरीबी और बेकारी नहीं मिटा सकती। इसमें शक नहीं कि कानून भी जरूरी हैं, क्योंकि उनसे प्रगति का रास्ता साफ होता है; लेकिन आखिरकार आदमियों की कोशिशों से देश आगे बढते हैं। हिन्दुस्तान में सवाल यह है कि ३५ करोड़ आदमी इस नये रास्ते की तरफ कैसे बढें। हमें लोगों में उमंग पैदा करनी है, जिससे कि वे भविष्य की तस्वीर को देख सकें और उस दिशा में आगे बढ सकें।

इस सबके लिए सख्त मेहनत की जरूरत है। रुपया और पूंजी की आवश्यकता है। लेकिन अपने आपमें रुपया या पूंजी ही कोई संपत्ति नहीं हैं। संपत्ति तो आदमियों की मेहनत से पैदा होती है। यही देश की सबसे बड़ी ताकत है।

इस समय ५५ सामुदायिक योजनाएं आरंभ की गई हैं। धीरे-धीरे इन योजनाओं के लिए और स्थान भी चुने जायंगे और संख्या ५०० तथा उससे ऊपर भी जा सकती है। हम चाहते हैं कि इस तरह की योजना आखिरकार हिंदुस्तान के हर गांव में हो। काम बड़ा है और शायद उसकी कल्पना भी इससे पहले कहीं नहीं की गई है।

आफीसरों से मैं कहूंगा कि वे नीलोखेड़ी में अपने कामको मेहनत से सीखें; लेकिन मैं यह भी कह देना चाहता हूं कि जब वे अपनी-अपनी जगहों पर वापस जायं तो वहां के किसानों पर हुक्म न चलाएं। अधिकारियों को गांववालों से बहुत-कुछ सीखना है। केवल आदान-प्रदान की भावना से ही वे गांववालों का विश्वास प्राप्त कर सकते हैं और उन्हें आगे बढ़ाकर ले जा सकते हैं।

मैंने बहुत से कार्यकर्त्ताओं को देहातों में जाते देखा है। वे वहां भाषण देते हैं और सलाह-मशविरा देकर अपने घरों को लौट आते हैं। यह काम करने का तरीका नहीं है। अगर आप गांव जाना चाहते हैं तो सबसे पहले आपको यह भावना रख लेनीं चाहिए कि आप गांववालों से बहुत कुछ सीख सकते हैं। अगर आप ग्रामीणों की पुकार सुनेंगे तो आप अपने ही ध्येय को आगे बढ़ाने में मदद पहुंचायेंगे। ऐसी हालत में आप उनसे सीखेंगे और उन्हें सिखावेंगे भी। ये दोनों बातें साथ-साथ ही चलती हैं।

योजना-आफीसरों को ग्रामीणों में यह भावना पैदा करनी है कि उनके भारी काममें वे उनके साथी हैं। शारीरिक श्रम के लिए ज्यादातर लोगों में जो घृणा और हीन समझने की भावना है उसके स्थान पर आदर भाव पैदा करना होगा। मेरे खयाल से हर विद्यार्थी को काफी समय खेतों या कारखानों में शारीरिक श्रम करने में लगाना चाहिए।

मैं आपके काम की ओर आशाभरी आंखों से देखूंगा और मुझे उम्मीद है कि आप अपनी सारी ताकत इस बड़े काम को—३५ करोड़ लोगों को उठाने के काम को—पूरा करने में लगायंगे।

योजना-अफसरों के नाम
रेडियो से प्रसारित संदेश।
जुलाई, १९५२